

समयसार प्रवचन

अष्टम् पुस्तक

अपना परिचय—अभी-अभी ये भैया हमारा परिचय देनेको खड़े हुए थे। इन्हें हमने रोक दिया। इनको दुःख तो हुआ होगा। लेकिन इनका काम हम किये देते हैं। सुन लो भैया हमारा परिचय तीन चीजोंका पिंडोला है (१) चेतन, (२) कर्म और (३) शरीर। आपको तीनोंका परिचय चाहिए। तो लो शरीर तो यह परिचय है “जुकाम, बुखार, खांसी। गलेके अन्दर फांसी।” अब कर्मका परिचय लो, जो ये नाना कर्मफल चल रहे हैं सो यह सब उन कर्मोंका परिचय है। अब रही इस चेतनके परिचयकी बात। सो आपको अपने चेतनका परिचय होगा तो मेरा भी परिचय हो जायगा, क्योंकि हम आप सब एक स्वरूप हैं। देखो भैया! कहाँ तो हम आपकी एक समानता है और हम आपमेंसे ही कोई कोई क्रूराशयी पुरुष जीवोंके साथ कैसा बर्ताव करते हैं, सो उनकी करतूत सुनकर दिल काँप जाता है।

क्रूराशयों द्वारा हिंसाकी भीषण प्रवृत्ति—आजके हिंसाके रूपको देखो कि पशुवोंके ऊपर निर्दयतासे कैसा प्रहार किया जा रहा है? पशुवोंके छोटे बच्चोंकस जो कोमल चमड़ा बनाया जाता है, सो पहिले उस बच्चेको पानीसे भिगोते हैं और जब चमड़ा फूल जाता है तो उन पशुवोंके छोटे-छोटे बच्चोंपर डंडे बरसाकर उनकी खाल निकालते हैं। उन पशुवोंके छोटे-छोटे बच्चोंकी खालसे ये सूटकेस घड़ीकी चैन मनीवेग आदि तमाम चीजें बनाया करते हैं और और भी कितनी ही हिंसाएँ करते हैं। सो उसके प्रतीकारमें आपको सबसे छोटीसी एक बात हम यह कहेंगे कि आप सभी लोग चमड़ेसे बनी हुई चीजोंका प्रयोग मत किया करें। चमड़ेको बिल्कुल ही छोड़ दें। यदि पशुवोंकी रक्षाके लिए आप इतनी भी नहीं कर सकते तो और क्या बताया जाय? पक्षियोंकी रक्षाके लिए आप इतना भी नहीं कर सकते तो और क्या बताया जाय? पक्षियोंकी हिंसाका रूप देखिये। उसको तो आप सब लोग जानते ही हैं। औरोंकी तो बात छोड़ो, १० रुपयेके पीछे मनुष्य की जान ले लेते हैं। हिंसाका ऐसा नाच हो गया है। ऐसी स्थितिपर हम आपको, जितना बन सके, जितना अपनेमें बल और श्रद्धा हो उतनी पवित्रता अपनेमें बनानी चाहिए।

हिंसासे होनेवाली हानियाँ—आप देखिए कि हिंसासे कितनी ही हानियाँ हैं। घी दूधकी कमियाँ हो गई और अनावश्यक वस्तुयें बन गई। यह तो है हम आपके व्यवहारकी बात। और देखिये जिस जीवको तलवारसे मारा जाता है उसे उस समय क्लेश होता है, वह संक्लेश सहित ही प्रायः मरता है तो ऐसा मरण होनेपर वह अभी जिस गतिमें है उससे नीची गतिमें जायगा। तो जो हिंसा करते हैं उन्होंने मिथ्या आशय करके अपनेको मोक्षमार्गसे कितना दूर कर दिया? और उस

पशु आदिको भी मोक्षमार्गसे कितना दूर कर दिया? आज यहाँ वे ५ इन्द्रिय और मनवाले हैं और मृत्युके बाद उनकी क्या गति होगी? तो सोचो तो सही कि यदि कीड़े-मकोड़े मरकर बन गए तो उनको कितना मोक्षमार्गसे दूर कर दिया? जहाँ यह बतलाते हैं कि जीव अनन्तकाल तक निगोदमें रहा, वहाँसे मुश्किलसे निकल पाया, पंचेन्द्रिय हो गए संज्ञी हो गए। कहाँ तो मोक्षमार्गके निकट आ रहे थे और एकदम ही ५ मिनटके प्रसंगमें वह जीव कितना दूर हो गया? उसकी परमार्थसे यह हिंसा हुई। और घातकने परमार्थसे दूसरेकी हिंसा नहीं की बल्कि अपनी ही हिंसा की। वह अपने स्वरूपको भूल गया और विषयकषायोंमें रत हो गया, तीव्र आसक्त हो गया तो उसने आपको मोक्षमार्गसे अत्यन्त दूर कर दिया। इस जीवने हिंसा की तो उसका परिणाम क्या हो गया कि उसे संक्लेश हो गया, उसका मरण हो गया और वह मरण करके नीची गतियोंमें चला गया।

हिंसासे स्वयंका ऐहिक बड़ा नुकसान—हिंसा करनेसे ऐहिक और दूसरा नुकसान यह होता है कि उसके प्रति लोगोंका अविश्वास हो जाता है और वह भी कभी सुख चैनसे नहीं रह पाता है। जहाँ परस्परमें अविश्वास हो गया वहाँ समझो जिन्दगीका बेड़ा पार होगा। चार चोर थे। वे कहींसे दो लाखका धन चुरा लाये। और वे नगरसे बाहर निकलकर एक जंगलमें चारोंके चारों रुक गए। अब उन चारों चोरोंने सोचा कि पहिले भोजन कर लें और फिर इस धनका बंटवारा बादमें करें। सो उनमेंसे दो भोजनका सामान खरीदने नगर चले गए। इन दोनोंने सोचा कि कोई जहरीली चीज ले लें, भोजनमें मिलाकर उन दोनोंको खिला देंगे तो वे दोनों मर जायेंगे और हम दोनों एक एक लाखका बंटवारा कर लेंगे। इधर तो इन दोनोंने यह सोचा और उसी समय उन दोनोंने क्या सोचा कि हम दोनों उन दोनोंको बंदूकसे मार दें, वे दोनों मर जायेंगे तो अपन दोनों आधा-आधा बांट लेंगे। अब वे दोनों अपनी तैयारीसे नगर आए और इधर दोनोंने बंदूकसे दोनोंको मार दिया। अब विष से मिले हुए सामानको उन दोनोंने खाया तो वे दोनों भी मर गये। अब चारों चोर मर गए और साराका सारा धन वहींका वहीं पड़ा रह गया।

अपने कर्तव्यका दर्शन—इस अहिंसाके सम्बन्धमें हम लोग क्या करें? जो करना है सो तो आप लोग प्रेक्टिकल सब कुछ कर रहे हैं। फिर भी जितना हम आप और अधिक कर सकें उतना अहिंसाके प्रति करना चाहिए। सबका भला इस अहिंसासे ही है। देखिये स्वामी सामन्तभद्राचार्यने इस अहिंसाको परमब्रह्म कहा है, देवता कहा है। कल्पना करो कि अगर यहाँ सब देवता ही बस जायें याने अहिंसक हो जायें तो कितना अच्छा वातावरण बन जाय? सब शांतमय हो जायेंगे। पर यह होना असम्भव है। यह संसार तो इन्हीं सब बातोंका घर है। जो अपनेको उचित हो उस पर दृष्टि दें। सबको क्या देखें इस संसारमें बिरले ही जीव ऐसे होते हैं जो अपनेको निर्मल बनाते हैं।

अहिंसाके प्रति गृहस्थजनोंका मौलिक कर्तव्य—अहिंसाके बारेमें साधुजन क्या करते हैं कि चारों प्रकारकी हिंसावोंसे बिल्कुल दूर रहते हैं। गृहस्थजन क्या करें? एक चीज हमारी सूझमें आई है कि गृहस्थजनोंको अहिंसाके प्रति अपना मौलिक क्या कदम उठाना चाहिए। यहाँ पर हम आपसे

एक प्रश्न करते हैं कि घरमें जो चार, छः, दस, बीस आदमी हैं उनको प्रेमकी तराजूके एक पलड़ेमें बैठाल लो और जगतके जितनी भी जीव हैं उन सबको एक पलड़ेमें बैठाल लो तो किस तरफका पलड़ा भारी रहना चाहिए? इसकी निगाह कर लो। घरके जो दो चार जीव हैं, उनको ही समझ लिया कि ये मेरे सब कुछ हैं और जगतके अन्य जीव कुछ नहीं हैं। तो इससे अहिंसामें क्या कदम बढ़ेगा? जितना धन घरके उन चार आदमियोंपर खर्च करते हो, उतना तो कमसे कम जगतके अन्य सब जीवोंपर खर्च किया करो। यदि आपको हजार रुपया खर्च करना है तो ५०० रु खर्च करो अपने परिवारकी रक्षाके लिए और ५०० रुपये खर्च करो जगतके अन्य जीवोंके लिए। इसी प्रकार तन मन उस वचनका भी प्रयोग सम-अनुपातपर करो। जब सब जीवोंका स्वरूप अपने उपयोगमें एक समान आ जायगा तब जाकर प्रेक्टिकल अहिंसा बन सकेगी।

हिंसाका साधकतम अपना दुर्भाव—इस प्रसंगमें एक बात मुख्यतया जानने योग्य है कि वास्तवमें जो हिंसा हुआ करती है वह अपने भावोंसे हुआ करती है। जैसे कोई डॉक्टर रोगियोंकी दवा करता है, ऑपरेशन करता है, उन रोगियोंमें से कदाचित् कोई रोगी गुजर जाय तो क्या कोई डॉक्टरको हिंसक कहता है? नहीं कहता है। देखो हिंसा होकर भी हिंसक नहीं होती है। और हिंसा न होकर भी कोई हिंसक हो जाता है। जैसे कोई शिकारी इरादेसे किसी पशु पक्षीको मारने का यत्न करता है पर वह न मरे, वहाँ तो वह बच गया, नहीं मरा, पर यह हिंसक हो गया। इसी प्रकार जो अयत्नाचारी है वह बाह्यमें जीवका हिंसक न होकर भी हिंसक हो जाता करता है।

भावोंकी विचित्रताका प्रभाव—भैया! जब जरा भावोंकी विचित्रता देखियेगा। हिंसा करता है कोई एक और हिंसा लग जाती है अनेक लोगोंको। किसीने साँप मार दिया देखने वाले लोग कहते हैं वाह-वाह कैसे मारा, खुश होते हैं। लो, उन दसों लोगोंके हिंसा लग गई कि नहीं? लग गई। और देखिये हिंसा करते हैं अनेक और हिंसक केवल एक माना जाता है। सेनाके अनेक लोग लड़ाई में मरते हैं, पर हिंसक केवल एक राजा माना जाता है। यह बात एक उद्देश्य व अपेक्षासे है। भावोंकी विचित्रता देखते जाइए। हिंसा करनेसे पहिले ही हिंसाका फल मिल जाता है। हिंसा करनेका इरादा हुआ, लो पापबंध हो गया। उस पापकर्मका आबाधकाल व्यतीत होनेपर उदय आ गया, सो लो फल पहिले भोग लिया और पूर्व इरादेके अनुकूल हिंसा इसके बाद कर सका।

अहिंसापालिका क्षमा—भैया! जैसे पतंग है ना। पतंग तो बड़ी दूर उड़ जाती है मगर डोर मेरे पास है तो सब कुछ सम्हाल है। इसी प्रकार इस जीवको अपनी सावधानी पहिले कर लेना है। अपने परिणामोंको शांत बनाना है। परिणामोंकी निर्मलता ही हम आपकी विजय है। लोकव्यवहारमें करो तो ऐसा। कोई कमजोर आपका कोई अपराध कर दे, तो उसे दुःखी कर देने दो, उसकी बातको अनसुनी कर दो। इस तरहसे प्रेक्टिकल रूपमें अपने परिणामोंको शांत करो तो सही।

हिंसाभावसे स्वयंका अहित—देखिये भैया! जो हिंसा करता है, किसी दूसरे जीवको दुःखी करनेका परिणाम करता है उसका बिगाड़ पहिले होगा, दूसरोंका बिगाड़ हो अथवा न हो। यह जीव

किसी दूसरे जीवका बिगाड़ नहीं कर सकता है। प्रत्येक जीव अपनी ही हिंसा और अहिंसा कर सकते हैं। अभी आप यहाँ बैठे हैं और किसी चीजका रागद्वेष हो जाय, लो हिंसा हो गई। सब पापोंका आधार हिंसा है। रागद्वेषकी उत्पत्ति ही हिंसा है। तो हम अपनी वृत्तिमें ऐसा चलें कि हमारे निमित्तसे किसीको क्लेश न पहुँचे। और ऐसा भी न करें कि किसीको क्लेश तो नहीं पहुँचाते, मगर घरमें एक इकलौता लड़का है, तो उससे राग करते रहें। कोई कहे कि हम द्वेष तो नहीं करते, और कुछ करें तो क्या यह अहिंसा है? नहीं, रागद्वेष मोह भाव ही हिंसा है।

चैतन्यभाव हमारा शृङ्गार या अभिशाप—और देखिए हम और आपका स्वभाव एक चैतन्यभाव है, किन्तु वर्तमान स्थितिको देखकर बताओ कि यह जो चैतन्यभाव है वह अपना शृङ्गार है या अभिशाप? जरा इसपर विचार तो करो। शृङ्गार भी है और अभिशाप भी। इन जड़ पदार्थोंमें चेतना नहीं है पर कमसे कम दुःखसे तो रहित है, रागद्वेषके विकारोंसे तो रहित हैं। इन चेतनोंमें तो रागद्वेष ही झलकते हैं। ये चेतन जीव तो खोटे अभिप्राय रखते हैं इसलिये ये सारे जीव दुःखी हैं। इन चेतनोंको अपने द्रव्यस्वरूपका पता नहीं है। इनका स्वरूप तो ज्ञानानन्द घन, अनन्तआनन्दमय है। इसके ज्ञानमें लोक और अलोकका ज्ञान आ जाता है। जो ज्ञानका भूखा हो और उस ज्ञानमें रमता हो तो लोकालोक इसके जाननमें आ सकता है। ऐसा परमशृङ्गार रखनेवाले हम और आप अपनी हिंसा करते चले जा रहे हैं, विषयकषायोंमें ही लीन होते चले जा रहे हैं। इस प्रकारसे हम आप अपने इस स्वर्णमय मानवजीवनको प्राप्त करके उसे यों ही मोह रागद्वेषोंमें ही खोते चले जा रहे हैं। इस मानवजीवनको सफल करनेके लिए ज्ञानार्जन करना चाहिए।

आदतकी गतिशीलता—भैया! चाहे हमसे जो चाहे विषय कहवा लो, हम तो कह पावेंगे अपने ही ढंगसे। जैसे एक रंगरेज था। वह आसमानी रंगकी पगड़ी रंगना जानता था। कोई आए, कहे लाल रंगकी पगड़ी रंगना है, बोले ठीक है, कोई कहे पीली रंगना है, बोले ठीक है, कोई कहे हरी रंगना है, बोले ठीक है। इस तरहसे सब पगड़ी धरा ले, और फिर कहे कि चाहे जिस रंगकी रंगावो पर अच्छी लगेगी आसमानी ही। हम तो वही रंगेंगे। इसी प्रकार हमसे भी चाहे जो कहलवावो, आखिर यहीं उतर जाना पड़ता है।

ज्ञेयकी त्रितयरूपता—अच्छा देखो एक बात और कहेंगे कि किसी भी पदार्थको जाने, हम तीन रूपोंमें जानते हैं (१) शब्द, (२) अर्थ और (३) ज्ञान। जैसे आपका पुत्र है, तो वह आपका पुत्र भी तीन प्रकारका है (१) शब्दपुत्र, (२) अर्थपुत्र और (३) ज्ञानपुत्र। शब्दपुत्र क्या है? पु और त्र जो लिखा हुआ है या बोला गया है तो उसका नाम है शब्दपुत्र और अर्थपुत्र कौन है? वह दो हाथ और दो पैरोंवाला है वही है अर्थपुत्र। और ज्ञानपुत्र क्या है? उस पुत्रके सम्बन्धमें जो आप अपनी जानकारी बनाते है वह है ज्ञानपुत्र। ऐसे ही चौकी। शब्दचौकी, अर्थचौकी और ज्ञानचौकी। चौ और की ये शब्द हैं शब्दचौकी और यह जो चौकी दिखती है वह है अर्थचौकी। और इस चौकीके विषयमें जो ज्ञान बना है वह है ज्ञानचौकी।

प्रेमका आश्रयभूत ज्ञानपुत्र—अब यह बतलावो कि आप शब्दपुत्रसे प्रेम करते हैं या अर्थपुत्रसे प्रेम करते हैं या ज्ञानपुत्रसे प्रेम करते हैं? तो यह तो जल्दी समझमें आ जायेगा कि हम शब्दपुत्रसे प्रेम नहीं करते। अरे कही लिखा है पु और त्र, तो ले लो उसे गोदमें खिला लो। तो शब्दपुत्रसे प्रेम कोई नहीं करता। तो अर्थपुत्रसे प्रेम करते होगे, अरे अर्थपुत्रसे प्रेम करनेकी आपमें ताकत ही नहीं है, क्योंकि आपका आत्मा एक परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य है, और आपके आत्माकी जो हरकत होगी, जो क्रिया होगी, जो वृत्ति होगी वह आपके असंख्यात प्रदेशोंमें होगी। आपके बाहर आपकी वृत्ति नहीं जा सकती। तब आपके रागद्वेष आपके प्रदेशोंके बाहर नहीं जा सकते। अर्थपुत्र आपसे इतना दूर है कि आप उससे प्रेम कर ही नहीं सकते तब आप किससे प्रेम करते हैं? ज्ञानपुत्रसे। जो पुत्रविषयक विकल्प है उससे आप प्रेम करते हैं।

भक्तिका आश्रयभूत ज्ञानभगवान—भैया! अब आप समझ लो कि भगवान भी तीन रूपोंमें है। शब्दभगवान, अर्थभगवान और ज्ञानभगवान। भ, ग, वा, न इस शब्दोंसे तो कोई प्रेम नहीं करता है याने शब्दभगवानसे कोई प्रेम नहीं करता, अर्थभगवान को, वह सिद्ध क्षेत्रमें विराजमान है, वहाँ पर जानेकी यहाँ किसीमें ताकत नहीं है, क्योंकि तुम्हारी जो वृत्ति है वह तुम्हारे प्रदेशमें ही होगी। तुम्हारे प्रदेशसे बाहर तुम रागद्वेष नहीं कर सकते। भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवको विषय बनाकर, ज्ञेय बनाकर अपनेमें ज्ञानज्योति विकसित करके उसकी पूजा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम इस निर्दोष आत्माको पवित्र बना सकें तो भगवानसे भेंट हो सकती है अन्यथा भगवानसे भेंट नहीं हो सकती है।

सम्यग्ज्ञान व अहिंसाका अभिनन्दन—भगवानसे भेंट होना अर्थात् ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके गुणोंमें उपयोग जाना, निज विशुद्ध परमात्मतत्त्वकी उपासना करना, इन्द्रियसंयम व प्राणसंयम सहित पवित्र चर्या करना, न्यायपूर्वक अपना व्यवहार करना, किसी भी प्राणीको न सताना, स्वयं किसी विषयमें अन्धा न होना, पञ्च पापोंसे दूर रहना आदि सब अहिंसाके साधन व अहिंसाके रूप हैं। इस अहिंसामय प्रवर्तनका मूल पोषक वस्तुस्वरूपका यथार्थ अवगमरूप सम्यग्ज्ञान है। सो भैया! सम्यग्ज्ञान व अहिंसाके प्रयोगसे अहिंसामय निज ज्ञानस्वरूप परमब्रह्मकी उपासना करके अहिंसाके फलभूत स्वाधीन शाश्वत आनन्दको प्राप्त होओ।

ज्ञानीके उपयोगरूपी रंग मंचपरसे ये कर्म आस्रवका भेष छोड़ निकलकर भाग गये तब अब सम्वरके रूपमें उसका यहाँ प्रवेश होता है। संवरका मूल बीज यह ज्ञान अब बड़े वेगसे प्रकट हो रहा है।

ज्ञानका अभ्युदय—आस्रवका विरोधी सम्वर तत्त्व है। आस्रवका और सम्वरका अनादिकालसे विरोध चला आ रहा है। यह आस्रव अनादिकालसे ही अपने विरोधी संवर पर विजय प्राप्त करके मदोन्मत्त हो रहा है, किन्तु अब ज्ञानने उस आस्रवका भी तिरस्कार किया और एक अद्भुत विजय प्राप्त की। सो यह ज्ञान संवरका सम्पादन करता हुआ, अपने को अपनेही स्वरूपमें नियमित करता

हुआ अब यह ज्ञान जहाँ कि चेतन ज्योति स्फुटायमान हो रही है, जहाँ केवल चित् प्रकाश ही अनुभूत हो रहा है ऐसे उज्ज्वल अपने रसके प्राभार को बढ़ा रहा है; अर्थात् यह ज्ञान, ज्ञानकी वृत्तिको शुद्ध वृत्तिसे बढ़ा रहा है। जैसे लोकमें कहते हैं कि धनसे धन बढ़ता है। धन हो तो उससे धन बढ़नेका मौका मिलता है। यहाँ परमार्थसे देखो, ज्ञानसे ज्ञान मिलता है, बढ़ता है। ज्ञान हो तो उस ज्ञानकी वृद्धि बढ़ती चली जाती है। यह ज्ञान संवरको सम्पादित करता हुआ अपने ही रसके प्राभारको, बहाव को, भण्डारको बढ़ाता है।

संवरके उपायका अभिनन्दन—इस प्रसंगमें सर्वप्रथम ही समस्त कर्मोंके सम्वरण करनेका जो परम उपाय है, भेदविज्ञान है उसका अभिनन्दन करते हैं। अभिनन्दन करनेमें कितनी स्थितियाँ आती हैं? गुणगान करना, और गुणगान करनेके साथ-साथ गुणगान करने वालेका अपने आपमें उछल-उछलकर प्रसन्न होना। और केवल दो ही बातें नहीं हैं। कि गुणगान किया जा रहा हो और गुणगान करने वाला अपने अंतरमें उछल रहा हो, प्रसन्न हो रहा हो, केवल ये दो ही बातें नहीं हैं, किन्तु तीसरी बात उसके साथ यह लगी रहती है कि उस गुणकी वृद्धिके लिए वर्द्धनशील प्रगतिशील बना रहना। अभिनन्दनमें तीन स्थितियाँ होती हैं दूसरेका गुणगान करना, अपने आपमें आनन्दमग्न होना और उस गुण की वृद्धिके लिए प्रगतिशील होना। इन तीनों बातों सहित जो वर्णन किया जाता है उसे अभिनन्दन करना कहते हैं। यहाँ ज्ञानी पुरुष इस भेदविज्ञानका अभिनन्दन कर रहा है।

उवओगे उवओगो कोहादिसु रणत्थि कोवि उवओगो।

काहे कोहो चव य उवओगो रणत्थि कोहम्मि ॥ १८१ ॥

संवर तत्त्वकी शाश्वत उपयोगिता—यह सम्बर तत्त्वका प्रकरण है। सर्व तत्त्वोंमें श्रेष्ठ मूल और श्रेय इस सम्बर तत्त्वका है। कल्याण होनेका प्रारम्भ सम्बरसे है। कल्याण हो चुकनेपर भी सम्बर बना रहता है। निर्जरा तत्त्व पहिले रहता है, पर कल्याण होनेपर निर्जरा तत्त्व नहीं रहता है। कर्मोंके छोड़नेके नाम निर्जरा है। जब कर्म छोड़े जा चुकते हैं तो फिर निर्जरा किसकी करें, और नवीन कर्म न आ सकें, ऐसे अपने शुद्ध परिणामोंके होने का नाम सम्बर है। यह हुआ भावसम्बर, और नवीन कर्म न आ सकें ऐसी स्थितिका नाम है द्रव्यसम्बर। सो मोक्ष हो जानेपर भी ये दोनों प्रकारके सम्बर तत्त्व बने रहते हैं। इस सम्बरतत्त्वकी महिमा कैसे गाई जा सकती है? सबसे उत्कृष्ट महिमागान तो यही है कि उस सम्बरतत्त्वमें घुल-मिल जाएँ, सम्बररूप स्वयं बन जायें।

संवरतत्त्वका मूल साधन भेदविज्ञान—इस सम्बरतत्त्वका मूल साधन है भेदविज्ञान। लोकमें कोई भ्रममें दूसरेको अपना मान ले। तो उस दूसरेके पालनके लिए, उसके प्रसन्न करनेके लिए कितनी आकुलताएँ मचाता रहेगा? ये आकुलताएँ छूटें, इसका उपाय है भेदविज्ञान। ये संसारके समस्त संकट छूटें, इसका उपाय है भेदविज्ञान। कैसे भेदविज्ञान करें? मकान जुदा है, मैं जुदा हूँ। यहाँ भेदविज्ञानके लिए श्रम करना है क्या? नहीं। यह शरीर जुदा है, यह मैं आत्मा जुदा हूँ, ऐसा ज्ञान करनेके लिए तुम्हें भारी शक्ति लगानी है क्या? ये तो प्रकट समझमें आ रहे हैं। मकान जुदी

जगह खड़ा है, तुम जुदे क्षेत्रमें बैठे हो, शरीर जुदा स्वरूपमें पड़ा है, आप जुदे स्वरूपमें बैठे हैं। इसके लिए भेदविज्ञान का श्रम नहीं करना है। द्रव्यकर्म जुदा है और मेरा आत्मस्वरूप जुदा है। क्या इस बातके जाननेमें तुम्हें अपनी सारी शक्ति लगाना है? नहीं। अरे वे तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। भेदविज्ञानके सकलसेही सही, यदि परवस्तुवोंके भेदमें ही सारी शक्ति लगा दिया तो उसको आगे बढ़नेका मौका ही न रहा।

परमें भेदज्ञानकी अपेक्षा निजमें भेदज्ञानकी श्रेयस्करता—सर्व परपदार्थोंमें घनिष्ठता कर्मोंसे है। यद्यपि ये द्रव्यकर्म आगमगस्य हैं तो भी जैसे वर्तमान दुनियाके नक्शोंको लिखकर, पढ़कर, सुनकर स्पष्ट बोध रहता है, अमेरिका वहाँ है, रूस यहाँ है, इसी प्रकार आगम ज्ञानके माध्यमसे भी सुनकर, जानकर हमें स्पष्ट बोध है, सूक्ष्म कार्माणवर्गणावोंके रूपमें अनन्त कर्मस्कंध इस जीवके एक क्षेत्रावगाहमें हैं और आगमगम्यता होना इतनी ही बात नहीं है, किन्तु युक्ति भी बतलाती है कि यदि किसी विजातीय परद्रव्यका सम्बन्ध न होता तो इस चैतन्यकी आज स्थिति चिंतनीय न होती। यह जो विचित्र नाना प्रकारका परिणमन पाया जाता है, इसका अनुमापक यह द्रव्यकर्मका सम्बन्ध है। इन द्रव्यकर्मोंसे मैं न्यारा हूँ ऐसी स्थितिके अवसरोंमें ठौर रहनेका, मग्न होनेका ठिकाना फिट नहीं बैठ पाता, पर इन सब परसे भी, परद्रव्योंसे भी आगे हटकर अपने आपके ही घरका भेदविज्ञान करनेके लिए चलना चाहिए।

निजमें भेदविज्ञान और इस पद्धतिके लिये एक दृष्टान्त—यह मैं अमूर्त चैतन्य तत्त्व जिस किसी प्रकार भी वर्तमान में हूँ उसमें यह देखना है कि परमार्थभूत मैं क्या हूँ। और उपाधिरूप दंडरूप मुझमें क्या बात बस रही है? इन दोनों भावोंमें भेदविज्ञान करना सो भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा है। उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादिकमें उपयोग नहीं है। यों देखा जा रहा है निज आत्मतत्त्वमें। जैसे पानीका लक्षण क्या है? पानीका लक्षण है द्रवत्व, बहना। द्रवतत्त्वका स्वभाव रहना पानीका लक्षण है। गर्म हो जाय तो बहाव को नहीं छोड़ता और ठंडा हो जाय तो भी बहावको नहीं छोड़ता। पानीका ठंडा होना भी स्वभाव नहीं है क्योंकि तेज ठंडी बर्फके सम्बन्धसे वह पानी अधिक ठंडा हो जाता है। पानीका स्वभाव द्रवत्व है किन्तु जो पानी अग्निका सम्बन्ध पाकर गर्म हो गया है उस पानीका भेदविज्ञान तो करिये, किस तरह करोगे? गर्मीमें द्रवत्व नहीं, द्रवत्वमें गर्मी नहीं। यही भेदविज्ञान हो गया। पानी द्रवत्व स्वभावको लिए हुए है। और यह बहना कहीं गर्म होता है या कहीं ठंडा होता है? नहीं। बहनेका बहना ही है ठंड और गर्मी नहीं है। इसी प्रकार इस आत्माको निरखियेआत्माका लक्षण उपयोग है, जानना देखना है। इस जाननदेखनमें जानन देख नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है।

स्वभावविभावके भेदविज्ञानके लिये अन्य दृष्टान्त—प्रकृतमें एक मोटा दृष्टान्त लें। आपकी छाया जमीनपर पड़ रही हो तो वह जमीन छायास्वरूप हो गई है। वहाँ जमीनका स्वरूप क्या है? क्या छाया है? नहीं। जीवका स्वरूप दृष्टान्तमें कह रहे हैं। जो रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है ऐसा मूलतत्त्व उस पृथ्वीका लक्षण है। अब देखो इस मूलतत्त्वमें छाया नहीं, छायामें मूलतत्त्व नहीं।

सफेदीमें छाया नहीं, छायामें सफेदी नहीं। बल्कि सफेद फर्श है और आपकी छाया पड़ जानेसे वह सफेदी तिरोहित हो गई है। सफेदी नहीं नजर आती है, कालापन नजर आता है। छाया हो जाने से कुछ अंधेरा आ जाता है और अंधकार है कालेरूपमें तो फर्श पर कालापन आकर भी फर्शपर काला है या सफेद? सफेद फर्शकी सफेदीमें छाया नहीं है, छायामें सफेदी नहीं है। यह स्वरूप और विभावका भेदविज्ञान किया जा रहा है।

उपयोग व क्रोधमें परम्परा अभाव—उपयोगमें उपयोग है, क्रोधमें कोई भी उपयोग नहीं है। क्रोधमें तो क्रोध ही है, उपयोगमें कोई क्रोध नहीं है। यहाँ एक उपयोग आधार बताया और उस ही उपयोगको आधेय बताया, ऐसी स्थितिमें ज्ञान दर्शन उपयोग होनेसे, लक्षण होनेसे अभेदको ही, आत्माका उपयोग कह दिया। उस शुद्ध आत्मतत्त्वमें उपयोग ही ठहरता है, ज्ञानमें ज्ञान ही है, यों कहिए या यों कहिए, ज्ञानीमें ज्ञान ही है। ज्ञानीमें ज्ञानी है यों कहिए, ज्ञानी तो ज्ञानी ही है यों कहिए। स्वभावके स्पर्श करनेकी ये भेदाभेदकी और ले जाने वाली चार श्रेणियाँ हैं। उपयोगमें उपयोग ही है। क्रोधादिकमें कोई भी उपयोग नहीं है। एकका दूसरा कुछ नहीं लगता। फर्शपर छाया पड़ रही है तो सफेदीमें छाया नहीं है और छायामें सफेदी नहीं है। हो रही बात एक ही जगह दोनों, पर बिल्कुल स्पष्ट समझमें आ रहा है कि सफेदी में छाया का कुछ नहीं लगता और छायामें सफेदीका कुछ नहीं लगता। जलमें द्रवत्व और उष्णता दोनों एक साथ हैं पर द्रवत्वमें उष्णताका कुछ नहीं लगता और उष्णताका द्रवत्वमें कुछ नहीं लगता, क्योंकि इन दोनोंका भिन्न स्वरूप है।

उपयोग और कषायकी भिन्नता बतानेके लिये व्यक्तिरूपमें प्रयोग—भैया! परसानीफिकेसन एक अलंकार होता है जहाँ किसी भी भावको किसी पुरुषका रूपक दे दिया जाता, जैसे यह कहा जाय कि बुढ़ापा दुनियासे यह कह रही है कि मैं अपनी पहिली जवानीको ढूँढ रहा हूँ। यह है परसानीफिकेशन। बुढ़ापा कोई आदमी है क्या? नहीं। पर ऐसा बोला जाता है कि नहीं? बोला जाता है। कोई बूढ़ा आदमी कमर झुकाए मानों जमीनको निरखता हुआ नीचे झुककर जा रहा है तो कवि कहता है कि यह बूढ़ा कर क्या रहा है? यह अपनी जवानी को ढूँढता जा रहा है कि मेरी जवानी गिर कहाँ गई? लो अब वह बुढ़ापा अपनी जवानी को ढूँढ रहा है। यही है परसानीफिकेसन अलंकार। इसी प्रकार यहाँ उपयोगको और क्रोधादिक भावको इसी अलंकारमें देखिए तो ये दोनों व्यक्ति बन गए। जब यह आत्मा व्यक्ति बन गया तो यह प्रदेशी हो गया, अपनी जगह बनाने वाला हो गया। यह सब भावोंके आशयमें चल रहा है। उस समय यह कहा जायगा कि इस उपयोगके प्रदेश जुदे हैं और क्रोधके प्रदेश जुदे हैं।

यहाँ पर आत्माके प्रदेशोंसे मतलब नहीं है, कर्मोंके प्रदेशोंसे मतलब नहीं है; किन्तु आत्मीय और औषाधिक इन दोनों भावोंको व्यक्तिरूपसे उपस्थित किया है जिन भावोंसे इन्हें व्यक्तिका रूप दिया है कि वे ही भाव यहाँ प्रदेशकी शकलमें निरखे जा रहे हैं। उपयोगके प्रदेश न्यारे हैं, क्रोधके प्रदेश न्यारे हैं। ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? दो मित्रोंमें थोड़ी गुज्जाइश तो निकले अलग-अलग

होनेकी, बेमेल बननेकी, दिल हटनेकी, फिर वह हटाव बढ़ते-बढ़ते इतना बड़ा हो जाता है कि पूर्णरूपसे हटाव हो जाता है। यहाँ एक आत्मामें अभिन्न प्रदेशोंमें बर्त रहे साधु और दुष्ट, स्वभाव और विभाव, सहज और असहज इन भावों से थोड़ा दिल तो फटे, थोड़ी गुञ्जाइश तो मिले, थोड़ी गुञ्जाइशकेक बाद इतना बड़ा भेद सामने आयगा कि लो अब व्यक्तिरूप देकर उपयोगके प्रदेश जुदा कह रहे हैं और क्रोधके प्रदेश जुदा कह रहे हैं।

अन्तर्भेदज्ञानके सम्यक्त्वकी साधकता—जब उपयोगमें और क्रोधादिकमें भिन्न प्रदेशत्व है तो इनका सत्व एक नहीं हो सकता, ये दोनों एक नहीं हो सकते। यह सब उस भेदविज्ञानकी बात चल रही है जो भेदविज्ञान अनुभवमें आ जाय तो नियमसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व उत्पन्न होना चाहिए फिर संसारमें कोई शंका नहीं रहती। फिर इस जीवका भविष्य ज्ञानप्रकाशमें ही रहता है।

उपयोग और कषायका भिन्नप्रदेशित्व—अब तीसरी बात निरखिये। उपयोग और क्रोध जुदे-जुदे हैं इस बातको समझनेके लिए उपयोग आत्मामें से बलको ग्रहण करके प्रकट होता है और क्रोधादिक पर-उपाधिके सन्निधिसे बलको प्रकट करते हुए उत्पन्न होते हैं। इस कारण उपयोगका रक्षक है आत्मा और कषायोंका रक्षक है द्रव्यकर्म। ये सब दृष्टियाँ हैं और उसका जिस दृष्टिसे वर्णन हो उस दृष्टिसे देखना चाहिए। नहीं तो पहिचानते तो सब हैं, कोई किसी दृष्टिकी बातको अन्य दृष्टिकी बातमें घुसेड़ देता है तब तो वहाँ विवाद ही रहेगा। रास्ता नहीं कट सकता। ये दो मालिक बराबरके बिगड़े हैं आत्मा और द्रव्यकर्म। और दो भाव भी बराबरके बिगड़े हुए हैं उपयोग और कषाय। कभी कुछ ऐसी परिस्थिति हो जाय कि इन दोनोंमें मनमुटाव हो ले तो उपयोग आत्माकी गोदमें बैठेगा और कषाय कर्मोंका मुँह ताकेगा। तब जो जिसके बलपर डटा है उसको उसके निकट ले जाइए, उपयोगको आत्मामें सम्मिलित कर दीजिए और कषायको कर्मोंमें सम्मिलित कर दीजिए। अब यों उपयोग है जुदा प्रदेशवान, भिन्नप्रदेशी कषायको कर्मोंसे सम्मिलित कर दीजिए। अब यों उपयोग है जुदा प्रदेशवान, भिन्नप्रदेशी और कषाय है भिन्नप्रदेशी। जब उपयोगका क्रोधादिक कुछ नहीं है, दोनोंका भिन्न स्वरूप है, भिन्न व्यक्तित्व है, परस्परमें भिन्न प्रदेशियों का अभाव है, तब उपयोगमें क्रोधादिक कैसे ठहरते बताया जाय?

उपयोग और कषायमें आधार-आधेय भावका अभाव—उपयोगके साथ क्रोधादिक का आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। यह सर्वोत्कृष्ट भेदविज्ञानकी बात चल रही है। पानीका स्वभाव है बहना और पानीमें औपाधिक भाव आया है गर्मीसे, किन्तु गर्मीके आधार पर बहना ठहरता है या पानीके आधार पर गर्मी रहती है? कुछ निर्णय क्या दिया जा सकता है? नहीं दिया जा सकता है। बहनेके आधारमें गर्मी नहीं है, गर्मीके आधारमें बहना नहीं है। दोनों बातें बहुत घुल-मिलकर हैं, फिर भी कितनी अत्यन्त जुदा मालूम हो रही हैं? इतनी ऊँची चट्टान पर बैठकर देखा जा रहा है। बस यहाँ ऊँचे बैठे हुए सब मामलोंको निरखते जाइए। उपयोगमें और कषायमें आधार-आधेय

सम्बन्ध भी नहीं है। जो अपना हो उसे अपनावो। जो अपना नहीं है उससे मुख मोड़ लो। बस यही तो काम शांतिके लिए किया जाता है। उपयोग अपना है, कषाय अपने नहीं हैं।

अपनेको अपनाना—जो अपना है उसे जब चाहे अपना बना लो रुकावट न आयगी। जो अपना नहीं है अनेक प्रयत्न करनेपर भी उसे अपना नहीं बनाया जा सकता है। उपयोग निज सहज स्वभाव है और कषाय औपाधिक भाव है, तो चूँकि भिन्न प्रदेशपना है, भिन्नस्वरूप है, भिन्न व्यक्तित्व है इसलिए एककी सत्ता दूसरेमें नहीं जा सकती। और इसी कारण आधार-आधेय सम्बन्धी भी नहीं है। अब यह दर्शक इस प्रकारके भेदविज्ञानका प्रयोग करता है।

परमार्थतः स्व-भावका स्व-भावमें आधार-आधेय भाव—उपयोग और कषायका परस्पर में आधार आधेय सम्बन्ध भी नहीं है यह बात सुनकर जिज्ञासु यहाँ यह प्रश्न करता है कि फिर इनका आधार-आधेय सम्बन्ध किसके साथ है? अर्थात् उपयोगका आधार कौन है और कषायका आधार कौन है? उत्तर बताया है कि उपयोगका आधार उपयोग है और कषायका आधार कषाय है। अपने-अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित रहनेका नाम आधार-आधेय सम्बन्ध है। जिस स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह है आधार और जो प्रतिष्ठित है वह है आधेय। यह ज्ञानकषायमें प्रतिष्ठित नहीं है और कषाय ज्ञानमें प्रतिष्ठित नहीं है। क्रोधादिक अपने क्रोध होने रूप स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित है और ज्ञान जाननस्वरूपमें प्रतिष्ठित है। जाननपन ज्ञानसे भिन्न चीज नहीं है। वह ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिक या गुस्सा करना आदिक भाव क्रोध से भिन्न चीज नहीं है, इसलिए क्रोधादिकका आधार क्रोधादिक है और जाननका आधार जाननस्वरूप है।

ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि—यहाँ कुछ ऋजुसूत्रनयके उपदेश का वातावरण समझाया है। ऋजुसूत्रनय द्रव्यभेद, क्षेत्रभेद, कालभेद व भावभेदसे भिन्न अखण्ड अंशको ग्रहण करता है अथवा किसी भी प्रकरणके सूक्ष्म भिन्न अंशको प्रकट करता है। इस आत्मामें दो प्रकारके भाव हो रहे हैं, एक ज्ञानभाव और एक कषायभाव। दोनों भावोंका स्वरूप जुदा-जुदा है। इस कारण ज्ञानका कषायसे मेल नहीं है। कषायका ज्ञानसे मेल नहीं है। कषाय और ज्ञान इनका अधिकरण एकको नहीं बताया जा सकता है। वही तो हो ज्ञानका आधार और वही हो कषायका आधार तो इसमें समानाधिकरण होनेसे अटपट व्यवस्था चलेगी और कदाचित् ज्ञानके बजाय कषाय होने लगे, कदाचित् कषायके बजाय ज्ञान होने लगे ऐसा उनमें विपरीत क्रम बन जायगा। अतः ज्ञानभाव और कषायभावका आधार किसी एकको नहीं कहा जा सकता। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें अभिन्न अंश ही दृष्ट होता है जिसका पुनः भेद नहीं किया जा सकता। इसकी दृष्टिसे पर्यायमें पर्याय है। पर्याय किस द्रव्यसे प्रकट होता है, ऐसा यहाँ नहीं देखना।

ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें अद्वैत—ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे तो इतना भी नहीं कहा जा सकता कि कौवा काला होता है। यदि कौवा काला हुआ करे तो जितना कौवा है वह सब काला होना चाहिए, किन्तु उसके भीतर खून लाल है, मांस लाल-सफेद है, हड्डी सफेद है, वहाँ तो भिन्न-भिन्न रंग पाये

जाते हैं। इसलिए कौवा काला नहीं होता। अथवा जो जो काले हों वे सब कौवा कहाने लगें। फिर तो बड़ी विडम्बना हो जायगी। इस कारण कौवा काला है यह कहना अशुद्ध है। यह ऋसुसूत्रनयकी दृष्टि कही जा रही है।

ऋसुसूत्रनयसे सूक्ष्म विश्लेषण—इस दृष्टिमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि रुई जल रही है। जलती हुई रुईको रुई जल रही है ऐसा नहीं बताया जा सकता है, क्योंकि जब जल नहीं रही है तब तो उसका नाम रुई है। और जब जल रही है तब रुई कहाँ रही? अग्नि रुईको जलाती है यह बता तो और अटपट है। इस नयकी दृष्टिमें कोई लोक व्यवहारकी व्यवस्था नहीं बनती, किन्तु विषय बताया गया है। इसी दृष्टिमें प्रकृत बात देखिये आत्मामें २ प्रकार के भाव हैं (१) ज्ञानभाव और (२) कषायभाव। ज्ञानका आधार ज्ञान है और कषायका आधार कषाय है। ज्ञान आत्मा नहीं है, ज्ञान कषाय नहीं है, कषाय आत्मामें नहीं है, कषाय ज्ञानमें नहीं है। यदि ज्ञान आत्मा होता तो जानन आत्मा केवल ज्ञान गुणमात्र रह जायगा। फिर उसमें दर्शन श्रद्धा आदि ये सब कुछ नहीं कहे जा सकते। ज्ञान कषायमें तो है ही नहीं। यदि कषाय आत्मामें होता, आत्माका होता तो आत्मा कषाय मात्र रह जायगा। उसमें फिर न गुण होंगे, न स्वभाव होगा। इस कारण ज्ञानका आधार ज्ञान ही है और कषायका आधार कषाय ही है।

ज्ञान व पर श्रेयको ज्ञानसे चबाकर मोहीके व्यवहारकी वृत्ति—भैया! अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित हुआ करता है प्रत्येक भाव, इस कारण उपयोगमें ही उपयोग है, कषायमें ही कषाय है। उपयोगमें कषाय नहीं, कषायमें उपयोग नहीं। यह तो अज्ञानियोंका काम है कि उपयोग और कषायको मिलाकर चबाकर अनुभव किया करें। जैसे हाथीके सामने हलुवा भी रख दिया, घास भी रख दिया तो वह मूढ़ हाथी यह नहीं कर पाता कि केवल हलुवाको खाये। वह तो हलुवा घासमें लपेटकर ही खाता है। वह केवल मिठाईका स्वाद नहीं ले सकता। ऐसे ही संसारके मोही जन केवलज्ञानका ही स्वाद नहीं ले सकते। वे ज्ञान और कषाय दोनोंको मिलाकर अपने अनुभवमें लिया करते हैं। जैसे कि इन बाहरी पदार्थों को हम जानते हैं तो खाली जानने तक नहीं रह पाते, किन्तु इस ज्ञेय पदार्थको और ज्ञानको मिला-जुलाकर अनुभव किया करते हैं।

ज्ञानज्ञेयको मिश्रित कर अनुभवनेका एक दृष्टान्त—भोजन किया तो उस समय स्वादमें बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। हमने अमुक फलका स्वाद चख लिया, रस ले लिया। क्या किसी आत्मामें ऐसी सामर्थ्य है कि किसी फलका रस ग्रहण करे? फलका रस फलमें ही रहता है, आत्मामें नहीं पहुँचता है। आत्मा फलोंके रसको ग्रहण नहीं कर सकता। और रस ग्रहण करनेकी बात तो दूर रही, परमार्थतः फलके रसको वह आत्मा जान भी नहीं सकता, किन्तु फलके रसका विषय बनाकर आत्माने जो अपने आपमें विकल्प किया, अर्थ ग्रहण किया, ज्ञेयाकार परिणमन किया उसको जानता है। जब आत्माका पुद्गलके साथ जानने तकका भी सम्बन्ध नहीं है तो ग्रहण करने और भोगनेकी तो कथा ही क्या कही जाय? ऐसा अत्यन्त पार्थक्य है इस ज्ञातामें और ज्ञेयमें, किन्तु इस पार्थक्य

को अपने उपयोगसे हटाकर ज्ञेयको ज्ञानको मिला-जुलाकर एकमेक करके यह मोही जीव अनुभव किया करता है।

ज्ञान और कषायको एक रसरूप करके अनुभव की अज्ञानीकी प्रकृति—यह अज्ञानी जीव ज्ञानको और कषायको मिला-जुलाकर एक रस मानकर अनुभव किया करता है। कषायको जाननेकी सामर्थ्य कषायमें नहीं है। कषाय, कषायको समझ नहीं सकता। यह समझनेवाला तो ज्ञान है और समझमें आ रहा कषाय सो कषाय तो ज्ञेय है और ज्ञाता ज्ञान है। मूढ़ जीव ज्ञान करे केवल ज्ञानरूपमें ग्रहण नहीं करता? कषाय और ज्ञान इन दोनोंको मिला-जुलाकर ग्रहण किया करता है, मिलता तो कुछ नहीं है, किन्तु कल्पना की बात बनती; जैसे गाय-भैसोंको सानी बनाया करते हैं ग्वाला लोग। भुसमें आटा-पानीको मिलाकर तिड़ीबिड़ी कर दिया, अब उस सानीको पशु खाते हैं। तो जैसे मिला-जुलाकर सानी बनाकर पशुओंको खिलाया जाता है इसी प्रकार मिला-जुलाकर ज्ञान-ज्ञेयकी सानी बनाकर ये संसारी मोही जीव भोगा करते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टि—वस्तुतः ज्ञानमें ज्ञेय नहीं है, ज्ञेयमें ज्ञान नहीं है। ऐसा अलौकिक भेदविज्ञान जिन धर्मात्मा जनोंके ज्ञानमें उतर गया है वे निकट भव्य है। अल्पकालमें ही मुक्तिको प्राप्त होंगे। शेष जीव तो विकल्पोंमें ही अपनी शांति मानते हैं और अपनी बुद्धिमानी समझते हैं। उनकी दृष्टिमें सारी दुनियामें केवल डेढ़ अक्ल है। एक अक्ल तो वे अपनेमें मानते हैं और आधी अक्ल सारी दुनियाके जीवोंमें मानते हैं। किसी दूसरेकी कुछ भी सामर्थ्य अपने विश्वासमें नहीं रखता।

यों इस सम्बरके प्रकरणमें प्रथम गाथामें ही वह सब सार बता दिया गया है जो सम्बर तत्वका एक मर्म है। अब जिस प्रकार उपयोगमें कषाय नहीं है, कषायमें उपयोग नहीं है, यह मूलके भेदकी बात कही गई है, इसी प्रकार परपदार्थोंकी बात यहाँ कही जा रही है कि कर्मोंमें और नोकर्मोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें कर्म नोकर्म नहीं हैं।

अट्ठवियप्ये कम्मं णोकम्मं चावि णत्थि उवओगो।

उवओगमिह य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १८२ ॥

नाना पदार्थविषयक भेदविज्ञान—८ प्रकारके कर्मोंमें और ५ प्रकारके नोकर्मोंमें उपयोग नहीं है, यह स्थूल भेदविज्ञान है। पहिले एक वस्तुविषयक भेदविज्ञान था। अब यहाँ नाना पदार्थविषयक भेदविज्ञान है।

कर्मका घर—ये कर्म अनन्त कर्म परमाणुओंके पुञ्ज हैं। लोकमें सर्वत्र ठसाठस अनन्त कार्माण वर्गणाएँ भरी हैं। और प्रत्येक संसारी जीवके साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें जो कर्मरूप नहीं भी हैं, प्रकृत्या इस आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह में हैं और किसी विलक्षण न होने लायक वह होने वाली बात है कि जो कर्मरूप नहीं भी है तो भी आत्माके साथ ऐसे चिपटे हुए हैं कि मानो इस इन्तजारमें कि जरा करे तो यह विभाव जीव कि हमारी बन आयगी, तत्काल कर्मरूप बन जायेंगे। यों अनन्त कार्माणस्कंध विस्त्रसोपचयके रूपमें जीवके साथ चिपटे हैं। यह जीव एक भव छोड़कर दूसरे भवको

जाये तो वहाँ भी इसी प्रकार साथ जाते हैं। जैसे कर्मोंके साथ परिणमे हुए कार्माण स्कंध साथ जाते हैं। ये सारे शत्रुरूप हैं निमित्तदृष्टिसे। कोई शत्रु सामनेरूपमें आ गया, कोई शत्रु शीत युद्धके सकलमें बैठा है अर्थात् सामने लड़ाईमें तो नहीं है मगर विश्वास उसका नहीं है। जिस चाहे समय शत्रुके रूपमें सामने खड़ा हो जायगा उम्मीदवार।

कर्म और आत्माका परस्पर अत्यन्ताभाव व निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—यों भिन्न पुद्गल द्रव्य हैं ये कर्म। इस आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कोई प्रवेश नहीं है कर्मों में, इसी प्रकार कर्मोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कोई प्रवेश नहीं है आत्मामें। सब अपने-अपने स्वरूपमें रह रहे हैं, किन्तु बिगड़ा हुआ होनेके कारण दोनोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। और कैसा अनिवार्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है की जीव विभाव परिणमन करे तो ये कर्मप्रदेश अमुक-अमुक स्थिति अनुभागरूप कर्म प्रकृति बन जायेंगे। और क्षयोपशम आदिका निमित्त पाकर आत्मामें विशुद्ध परिणाम जागृत हो तो जैसे ये कार्माणवर्णायें ऊँची स्थितिसे हटकर नीची स्थितिमें मिल जाय, विशिष्ट अनुभागसे हटकर साधारण अनुभागमें हो जाय और स्थितिका बहुत पहिले क्षयका परिणमन हो जाय, ये सब बातें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें स्वयमेव सर्वत्र अपने-अपनेमें होती रहती हैं।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे विभाव व्यवस्था—करनेमें उत्तम व्यवस्था नहीं होती, होनेमें उत्तम व्यवस्था बनती है। किया जानेमें सैकड़ों चूकें हो सकती हैं और यथा योग्य निमित्त सन्निधान होनेपर स्वयमेव ही दूसरेमें कुछ परिणमन होकर रहनेमें कभी चूक नहीं हो सकती। यदि घड़ी की सूईको घुमानेके लिए एक आदमी नियुक्त कर दिया जाय तो वह कितनी भूल करेगा, पर चाभी देते ही निमित्तकी सन्निधिसे वह योग्य घड़ी ७ दिन तक कभी चूक नहीं कर पाती, क्योंकि वहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धपूर्वक हो रहा है, इस समस्त लोक में यदि बनाने वाला कोई एक होता तो नाना अव्यवस्थाएँ प्रत्येक समय खड़ी रहा करतीं, किन्तु यह किया कुछ नहीं जाता। जो कुछ होता है वह योग्य उपादानमें अनुकूल निमित्तकी सन्निधिमें स्वयं होता है, निमित्त पाकर उपादानमें विभावपरिणमन स्वयं की वृत्तिसे होता है। करने वाला किसी अन्यद्रश्यका कोई अन्य द्रव्य नहीं है। यह कर्मोंके और आत्माके भेदकी बात कही जा रही है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी निमित्त व उपादानका परस्परमें अत्यन्ताभाव—यद्यपि कर्मोंका और विभावोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध घनिष्ठ है, इतनेपर भी स्वरूप पर दृष्टि करो तो जीवमें कर्म नहीं है और कर्मोंमें जीव नहीं है। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश गायका गला गिरवासे बंधा हुआ है, पर स्वरूपदृष्टिसे देखो तो गिरवामें गलेका अंश भी नहीं है और गिरवेका गलेमें अंश भी नहीं है। गिरवा गलेके ऊपर लोट रहा है और गला अपने गलेमें ही प्रतिष्ठित है, फिर भी वहाँ ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका वातावरण है कि वह गाय स्वतंत्र होकर कहीं हट कर जा नहीं सकती। इसी प्रकार जीव और कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध देखें तो यह जीव कर्मोंसे बंधा हुआ है। यह मनमानी नहीं कर सकता। कर्मबद्ध हुए हैं और उनके उदयकालमें नाना

विभावोरूप परिणमना पड़ता है किन्तु स्वरूप चतुष्टयको देखो तो आत्मामें कर्मोका नाम नहीं है व कर्ममें आत्माका नाम भी नहीं है।

स्वरूपचतुष्टयकी दृष्टिमें स्वतन्त्रता—स्वरूपचतुष्टयकी दृष्टिसे देखना निश्चयदृष्टि है और दो पदार्थोंके सम्बन्धसे देखना यह व्यवहारदृष्टि है। यद्यपि व्यवहारकी बात असत्य नहीं है किन्तु निश्चयदृष्टिके रंगमंच पर बैठकर देखते हैं तो व्यवहारका विषय दिखा नहीं करता। जैसे कि जब व्यवहारदृष्टिके मंचपर बैठकर निहारा करते हैं तो निश्चयदृष्टिका विषय इसकी दृष्टिमें नहीं आ पाता। यहाँ निश्चयदृष्टिसे देखा जा रहा है, कर्मों में उपयोग नहीं है और उपयोगमें कर्म नहीं है।

पञ्च शरीरोंका विवरण—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण नाम के ५ शरीर हैं। इन शरीरोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें शरीर नहीं है। औदारिक शरीर तो मनुष्य तिर्यञ्चोंकी देहका नाम है। जो स्थूल हो उसे औदारिक शरीर कहते हैं। जिसका उपघात हो सकता है वह औदारिक शरीर है। मनुष्य और तिर्यञ्चके शरीर औदारिक शरीर कहलाते हैं। देव और नारकियोंके शरीर वैक्रियक शरीर कहलाते हैं। जिसमें छोटा बड़ा होनेकी योग्यता है, एक अथवा नानारूप होनेकी योग्यता है ऐसी प्रक्रिया वाले शरीरको वैक्रियक शरीर कहते हैं और छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके मस्तिष्कसे निकले हुए धवल पवित्र शरीरको आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक और वैक्रियक शरीरके तेज का कारणभूत तैजस शरीरके पिण्डको तैजस शरीर कहते हैं और कर्मोंके समूहको, विशिष्ट सन्निवेशमें प्राप्त हुए कर्मोंके समुदायको कार्माण शरीर कहते हैं।

आत्मा व नोकर्मोंका परस्पर अत्यन्ताभाव—कार्माण शरीर और कर्मोंमें ऐसा अन्तर है जैसा ईंट और भीतमें अन्तर है। ईंटें सब पड़ी हुई हैं, वे बिखरी हुई हैं वे ईंटें हैं और वे ही ईंटें एक सिलसिलेसे ही चिन दी जाती हैं तो उसका नाम भीत कहलाता है। ये कर्म औदारिक अथवा वैक्रियक शरीरके प्रस्तारके अनुकूल उनमें उनके आकारमें जो बन जाते हैं उनका नाम है कार्माणशरीर। इन ५ प्रकारके शरीरोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें ५ प्रकारके शरीर नहीं हैं, क्योंकि इनका तो परस्परमें अत्यन्त विपरीत स्वरूप है। उपयोग तो चेतन हैं और कर्म नोकर्म जड़ हैं। इनका तो परस्पर में रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

भिन्न पदार्थों के मोहमें संक्लेश—जैसे विजातीय पुरुष एक साथ एक कार्यालयमें रह रहे हैं तो वे रहते तो एक जगह हैं पर उनमें सम्बन्ध कुछ नहीं है। इसी प्रकार कर्म, नोकर्म और जीव ये एक क्षेत्रमें रह रहे हैं, प्रदेशोंका एक क्षेत्रावगाह हो रहा है, किन्तु स्वरूपका सांकर्य रंच भी नहीं है। इसमें परमार्थसे आधार और आधेयका सम्बन्ध रंच भी नहीं हो सकता। यों कर्म नोकर्मोंमें उपयोग नहीं, उपयोगमें कर्म नोकर्म नहीं, फिर भी मोही जीव इस शरीरको देखकर यह माना करता है कि यह मैं हूँ, और इसी कारण जगह-जगह अपना अहंकार किया करता है। यह मैं हूँ, यह मेरी बात नहीं मानता है, यह मेरा अपमान करता है, मेरी बात नहीं रही आदिक विकल्प मोही जीवके पर्याय बुद्धिके कारण होते हैं।

देहकी भिन्नताका निर्णय होनेपर अहंकारका अभाव में शरीररूप नहीं हूँ ऐसा निर्णय होनेके पश्चात् फिर आत्मामें अहंकार नहीं हो सकता। मैं जब शरीर भी नहीं हूँ तो और फिर क्या हो सकता हूँ? मुझे लोग पहिचान भी नहीं सकते हैं। इस मूर्तिक पिण्डको देखा करते हैं तो उसको ही पहिचाना करते हैं। पर इस मुझ आत्मतत्त्वको कोई पहिचानता भी नहीं है। ऐसा गुप्त सुरक्षित ज्ञानज्योतिमात्र में आत्मतत्त्व हूँ। इस प्रकारसे सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञान कर रहा है।

ज्ञानमें और अज्ञानमें आधार-आधेय भावकी असंभवता-ज्ञानमें और कषायमें परमार्थसे आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है तथा ज्ञानमें और कर्म नोकर्ममें भी परस्परमें आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन सबका स्वरूप परस्परमें एक दूसरेसे विपरीत है। जैसा कि जाननमात्र ज्ञानका स्वरूप है क्या ज्ञानका स्वरूप गुस्सा करना आदिक भी है? नहीं। और क्रोधादिक कषायका जैसा गुस्सा करना आदिक स्वरूप है, क्या यह स्वरूप ज्ञान का हो सकता है? नहीं। जाननमें और कषायमें भेद प्रकट है और जब स्वभाव भेद है वस्तुभेद भी है, समझिये। है इस कारण ज्ञानमें और अज्ञानमें आधार-आधेयपना नहीं है। ज्ञान में तो आया केवल यह निजतत्त्व और अज्ञानमें आये पर और परभाव। परद्रव्य तो हुए कर्म और नोकर्म। परभाव हुआ कषायभाव। इनमें और उपयोगमें परस्पर सद्भाव नहीं है।

अब आगे बतलाते हैं कि ऐसा समागम जीवके तब होता है जब वह ज्ञानभावके सिवाय अन्य कुछ परिणति क्रियाएँ नहीं करता।

एयं तु अविवरीयं गाणं जइया उ होदि जीवस्स।

तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥ १८३ ॥

यथार्थज्ञान होनेपर मिथ्या विकल्पोंका अभाव जीवके ऐसा सत्यार्थ ज्ञान जिस कालमें होता है उस कालमें केवल उपयोगस्वरूप यह शुद्ध आत्मा उपयोगके सिवाय अन्य कुछ भी भावोंको नहीं करता है। यह ज्ञानमात्र आत्मा है। वह ज्ञानके सिवाय और कहाँ रहेगा? पर पदार्थ खुदके अपने असाधारण स्वरूपमें ही रहते हैं।

आकाशका अन्य द्रव्यके साथ आधार-आधेयपनेका अभाव जैसे पूछा जाय कि बतलावो आकाश कहाँ रहता है? चौकी कहाँ रहती है? बतलावो। आकाश कहाँ रहता है? उत्तर दो। आकाश अपने प्रदेशोंमें रहता है तो जैसे एक इस आकाशको अपनी बुद्धिमें रखकर जब आधार-आधेय भाव सोचा जाता है तो शेष जो अन्य द्रव्य हैं उनका अधिरोपण तो हो नहीं सकता। क्या ऐसा कहा जा सकेगा कि आकाश जीवमें रहता है, आकाश पुद्गल आदिक द्रव्योंमें रहता है, ऐसा अधिरोपण नहीं हो सकता है। जैसे कहीं वृक्षोंका अधिरोपण कर दिया कि यहाँ लगाना है इसी तरह आकाशको यह नहीं कहा जा सकता कि किस जगह लगाना है। बुद्धिमें भिन्न अधिकरण न आ सकेगा।

सभी द्रव्योंका परस्पर आधार-आधेय भावका अभाव-आकाश आधेय हो, अन्य द्रव्य आधार हो, ऐसा नहीं हो सकता। जब भिन्न आधार नहीं बन सकता तो एक आकाश को एक

ही प्रदेशमें रहने वाले द्रव्योंमें भी परस्पर आधार और आधेय भाव नहीं झलक सकता। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें नहीं रहता। यद्यपि इस आकाशमें हम जीवादिक बहुतसे द्रव्य रह रहे हैं फिर भी हम आकाशमें नहीं रह रहे हैं। आप हम सब जीव आकाशमें नहीं रहते। कहाँ रहते हैं? अपने प्रदेशोंमें रहते हैं। ये आकाशको छोड़कर क्या अन्यत्र रहते हैं? इससे हमें क्या मतलब? आकाश पड़ा है दुनियाभरमें पड़ा रहे, पर मैं आकाशमें नहीं रहता। मैं अपने प्रदेशोंमें ही रहता हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने ही प्रदेशमें रहते हैं।

ज्ञानका ज्ञानमें ही आधार-आधेय भाव—एक ही ज्ञानको जिस कालमें अपनी बुद्धि में रखकर आधार-आधेय भाव लिया जायगा तो शेष द्रव्यांतरोंका अधिरोप रुक जायगा। इसलिए कुछ बुद्धिमें भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसमें रहता है? ज्ञान, ज्ञानमें रहता है। ज्ञान आत्मामें रहता है यह भी सिद्ध है पर और सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो ज्ञान, ज्ञानमें रहता है। और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिमें जावो तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहाँ रहता है। ज्ञानमें ज्ञान है। उसमें षट्कारकी बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थ निर्देशक व्यवहार है लेकिन व्यवहार ही तो है। इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकोंके परिचय वाले मनुष्यके समझनेके लिए अभिन्न षट्कारका उपाय बताया है। जो ज्ञानका कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नहीं मिलता तो एक ही ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान है। वहाँ अन्य आधार और आधेय प्रतिभात नहीं होता।

ज्ञानानुभूति द्वारा आत्मानुभवपूर्वक भेदविज्ञान—भैया! आत्मा भी नहीं दिखता; अर्थात् अनन्त गुणपर्यायमें पिण्डरूपसे आत्मा नहीं दिखता। वह आत्मा केवल ज्ञानमात्र अनुभव में आता है और अनुभवमें आया हुआ ऐसा ज्ञानमात्र भाव ही आत्मा है। आत्माका अनुभव ज्ञानभावके अनुभवसे होता है। आत्माकी दशाएँ देखनेसे आत्माका अनुभव नहीं होता है। किन्तु ज्ञानमात्र ज्योति सामान्य अनुभवमें आनेपर ही आत्माका अनुभव होता है। इसलिए ज्ञानमें ज्ञान है। ज्ञानमें अन्य कुछ नहीं है और ज्ञान अन्य किसीमें नहीं है। क्रोधमें क्रोध ही है, क्रोधमें अन्य कुछ नहीं है, और क्रोध अन्य किसीमें नहीं है। ऐसा भेदविज्ञान इस सम्यग्दृष्टिके प्रतिष्ठित होता है। यह भेदविज्ञान परमार्थ शरण है, रक्षक है। इस भेदविज्ञानके प्रतापसे ही जीव संसारके संकटोंसे मुक्त होता है।

अज्ञानभावकी विदीर्णताके लिये परिणाम—भैया धन, समाज समागम, वैभव, राजपाट ये किसी काम न आयेंगे। ये मोहकी नींदमें थोड़े दिनोंका स्वप्न है पर यह आत्मज्ञान यह भेदविज्ञान प्रकट तो हो जाय, एक बार संसारसे दिल फट जाय फिर उसका उत्थान उद्धार सुनिश्चित है। हे सत्पुरुषों! इस भेदविज्ञानको प्राप्त करके रागादिक भावों से रहित एक शुद्ध ज्ञानघनका आश्रय करो, एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ही रमकर आनन्द पावो। यह भेदविज्ञान किस प्रकारके परिचयसे प्रकट होता है? चैतन्यस्वरूपका धारण करने वाला तो है ज्ञान और जड़रूपताका धारण करने वाला है रागादि

कषाय। जहाँ कषाय और चैतन्यस्वरूपमें भेद प्रतिभास नहीं होता उस अज्ञात दशाको जिन स्वरूपके अनुभवके बलसे विदीर्ण कर दो।

अज्ञानरूप संधिका विदारण—भैया! जहाँ ज्ञानानन्द है वहाँ अज्ञानदशा नहीं ठहरती। जहाँ अज्ञान दशा है वहाँ ज्ञानकी झलक नहीं होती। ये दोनों विपरीत परिणमन हैं। सो हे सत्पुरुषों! अपने अन्तरमें बड़ी दारुण परख करो, अपने इस मिले हुए चैतन्यस्वरूप व कषाय भावोंकी संधिका घात कर दो। जैसे जमी हुई दो चीजोंके बीचमें किसी वस्तुको छिन्न भिन्न कर देते हैं अथवा किसी काठपर बड़ी दारुणतासे करौंतीको चलाकर दो टुकड़े कर देते हैं इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप और कषायभाव इन दोनोंका जिस कुबुद्धिमें एकीकरण होता है, इस भावपर भेदविज्ञानकी तीक्ष्ण धारा चलाओ। इससे ज्ञानका और रागका भेदविज्ञान प्रकट हो जायगा। सो इस अज्ञानभावसे उन्मुख होकर अपने आनन्द स्वरूपको प्राप्त करो।

भेदविज्ञानका श्रेय—भैया! जो पुरुष द्वितीय वस्तुसे अलग हटा होता है वह ही इस आत्मीय आनन्दको प्राप्त करता है। ज्ञान तो चैतन्यस्वरूप है और रागादिक चूँकि पुद्गलके विकार हैं अर्थात् पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुए विकार हैं इसलिए जड़ हैं। ज्ञानी इन पुद्गलोंका जड़रूप मानते हैं। सो जब भेदविज्ञान प्रकट होता है, रागादिक भावोंसे भिन्न अपने भावोंके अभ्याससे प्रकट होता है। तब ऐसा लगता है कि अहो यह तो मैं ज्ञानमात्र ही हूँ। ज्ञानका स्वभाव तो जाननमात्र ही है, पर ज्ञानमें जो रागादिककी आकुलता विकल्पजाल कलुषता प्रतिभात होती हैं वे सब पुद्गलके विकार हैं। यों ज्ञान और रागादिकके भेदका विज्ञान यह ज्ञानी जीव प्राप्त करता है। यह भेदविज्ञान सब विभाव भाव के मेटनेका कारण है और परम सम्वर भावको प्राप्त कराता है। इसलिए हे संतपुरुषों! इस भेदविज्ञानको पाकर रागादिकसे रहित होकर शुद्ध ज्ञानमय आत्माका आश्रय लेकर आनन्द को प्राप्त करो।

ज्ञानानन्दमय आत्मदेवसे ज्ञानभाव व आनन्दभावकी उद्भूति—आनन्द आत्माके आश्रयसे ही मिल सकता है, लेकिन सुखमें भी जो जीव सुखका अनुभव करता है वह आत्मा की ओर झुककर ही सुखका अनुभव करता है। जिसे जब तृप्ति और संतोष होता है चाहे वह किसी भी भोगके प्रकरणमें होता हो, संतोष लेनेकी पद्धति आत्मामें झुककर लेनेकी है। कोई पुरुष आँखें फाड़कर बाहरी पदार्थोंमें झुककर संतोष नहीं पाता। अनेक प्रसंगोंमें भी उसे यदि संतोष मिलता है तो अपने आपमें ही झुककर मिलता है। इस प्रकार यह भेदविज्ञान जब ज्ञानके विपरीतपनेकी कणिकाको भी नहीं ग्रहण करता और अविचल ठहर जाता है। चूँकि शुद्धोपयोगमय आत्मस्वरूपकी ही बात हुई ना, इस कारण ज्ञान, ज्ञानरूप होता हुआ फिर कुछ भी रागद्वेष मोहरूप परिणामको नहीं रचता।

जीवका मूलकार जानन—भैया! इस जीवके जाननेकी आदत है। वह जाने बिना कभी रह ही नहीं सकता। निगोद पर्यायमें हो तो वहाँ भी जानेगा, अन्य पर्यायोंमें हो तो वहाँ भी जानेगा।

अरहंत और सिद्ध हो जाय तो वहाँ भी वह जानेगा। जानन आत्माका स्वभाव है। जानना छूट नहीं सकता, पर यह जानना जाननेके विपरीतपनेको जाने तो संसार स्वभाव है। जानना छूट नहीं सकता, पर यह जानना जाननेके विपरीतपनेको जाने तो संसार में रुलता है और यह जानना जाननेके विपरीतपनेकी कणिकाको भी ग्रहण न करे तो यह फिर रागद्वेषोंकी सृष्टि नहीं रचना। जो भी जीव दुखी हुए वे अपने ही अपराधसे दुःखी हुए।

केवलका निरखन—भैया! भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। तुम्हें अपने आपको अकेला शुद्ध निरखना है तो उसका उपाय केवल भेदविज्ञान है। केवलको निरखना है तो उसमें दो पुरुषार्थ होते हैं। पहिला तो मूल हुआ पदार्थोंके यथार्थस्वरूपको जानकर परसे हटना फिर द्वितीय पुरुषार्थ होता है केवलज्ञान। मायने आत्माके बल मायने अपनी शक्ति लगाना अर्थात् जो अपने आत्मामें ही अपनी ज्ञानात्मक शक्तिका प्रयोग करे वह शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकता है। शुद्ध आत्माको प्राप्त कर ले तो वहाँ रागद्वेषमोहका अभाव रूप संवर प्रकट होता है। यह संवरतत्त्वका अधिकार है। संवरकी उपयोगिता और संवरके उपायका इसमें वर्णन चल रहा है।

आत्माका शाश्वत हितू संवर—हमारा निजी शाश्वत साथी एक संवरतत्त्व है। आस्रव तो सदैव धोखा देने वाला है। बंध तो दुःखरूप दशा है। निर्जरा भी हमारा मित्र है। पर वह ऐसा उदासीन मित्र है कि वह आपका काम संभाल देगा, पर सदाके लिए आप का साथ न निभायेगा। हम आप संकटमें हों तब आपकी रक्षा कर देगा। जब आपको सुरक्षित कर दिया फिर आपका साथ न करेगा। जरूरत भी नहीं रहती मुक्तिके बाद निर्जराकी। एक संवरतत्त्व ऐसा है जो अब भी हमारा मित्र है, संकटसे बचाने वाला है। संकटोंसे बचा करके फिर कभी हमपर संकट न आ सके ऐसा सदैव जागरूक रहता है। सिद्ध होनेके पश्चात् भी यह संवरतत्त्व पहरेदारका काम करता है, अनन्तकाल तक फिर कोई प्रकारके कर्म नहीं आ सकते, ऐसा अद्भुत पराक्रम संवरतत्त्वका सदैव बना रहता है। यह संवरतत्त्व रागद्वेष मोहके अभावरूप है। शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होनेसे रागद्वेष मोहके अभावरूप संवर तत्त्व प्रकट होता है। ग्रन्थोंके अध्ययनका फल संवर होना चाहिए। हम अध्ययन करते जायें और उसको हम अपनी शक्तिके अनुसार उतारें नहीं तो इसी बातपर सुवा बत्तीसीका बोल बना है।

सुआरटन, चतुर अज्ञानीकी रटन—भैया सुवाको खूब पढ़ा दिया कि नलनी पर बैठना नहीं और बैठ भी जाना तो दाने नहीं चुगना। दाने चुगना तो उलटना नहीं और उलट भी जाना तो छोड़कर भाग जाना। उसे इस तरहसे पक्का याद हो गया। जैसे हमारे अनेक भाइयोंको पूजा एकदम याद है। इसी तरह वह सुवाने सब याद कर लिया। एक दिन पिंजड़ा खुला ही रह गया, मौका पाया झट पिंजड़ेसे भाग गया। खूब उछलता कूदता जहाँ शिकारीने पक्षियोंके फाँसनेके लिए षड्यंत्र रच रखा था, वहीं पर पहुँच गया। उस नलनी पर बैठा हुआ ही रटता जा रहा है कि नलनी पर बैठना

नहीं। बैठ जाना तो दाने चुगना नहीं। दाने चुगना तो उलटना नहीं और उलट जाना तो पंजा छोड़कर भाग जाना। ऐसा ही पढ़ता हुआ तोता उस नलनी पर बैठ गया। ऐसा ही पाठ पढ़ता हुआ वह दाने चुगने लगा, ऐसा ही पाठ पढ़ता हुआ वह उलट गया पर पंजा नहीं छोड़ता है, कहीं गिर न जायें। सो पंजोंसे उसे दृढ़ पकड़े हुए यही पाठ वह रटता चला जा रहा है। इसी प्रकार यह अज्ञानी मोही जीव भी धर्मसे पुण्यसे सब सुख मिलता है इस तृष्णामें आकर धर्मके कार्य करता है पर शुद्ध आत्माके अनुभवरूप संवरतत्त्वको प्रकट नहीं करता है। तो इतना सब परिश्रम करनेके बावजूद भी वह मोक्षमार्गमें नहीं आ पाता। हाँ, कुछ मंदकषाय होनेसे पुण्य बँधता है। तो जरा कुछ धनवैभव समागम इसे मिल जायेगा पर इससे आत्मा का पूरा क्या पड़ता है? आखिर इन सबको भी तो छोड़कर जानना ही पड़ेगा।

भेदविज्ञानका अभिनन्दन—यह आत्मा अपने ज्ञानद्वारा अपने आपके ज्ञानमें ही ठहरे तो इसका उपकार हो सकता है। इस तरह संवरके परम उपायभूत भेदविज्ञानका उक्त तीन गाथावोंमें अभिनन्दन किया गया है। अभिनन्दन कहते ही इसे हैं कि गुणानुवाद करते जाना और खुदमें प्रसन्न होते जाना तथा जिस गुणका अनुवाद किया जा रहा है उस गुणरूप चलनेका यत्न करना। सो ऐसा अभिनन्दन ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। परपदार्थोंसे निज-निजस्वरूपास्तित्वकी दृष्टिसे यह विविक्त है। जो स्वयं सहज एकावन्मात्र है वह शुद्ध ही देखनेमें जाना जाता है और शुद्ध आत्माके अवलम्बनसे ही रागद्वेष मोहका अभाव हो जाता है। रागद्वेषके मूलभूत मोहको अभावका ही नाम सम्यक्त्व है। अब प्रश्न किया जा रहा है कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति कैसे होती है?

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।

तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥ १८४ ॥

एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं!

अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥ १८५ ॥

ज्ञानकी असाताकी स्थितिमें भी ज्ञानसे अविचलितता—जैसे अग्निसे तृप्त हुआ स्वर्ण अपने स्वर्णपनेको नहीं छोड़ता है उसी तरह ज्ञानी जीव कर्मोंके उदयसे तप्तायमान हुआ भी ज्ञानीपनेके स्वभावको नहीं छोड़ता है। इस तरह ज्ञानी जानता है और अज्ञानी रागको ही आत्मा मानता है क्योंकि वह अज्ञानी अज्ञानरूपी अंधकारसे ग्रस्त है, इस कारण आत्माके स्वभावको नहीं जानता। जिस जीवके उत्तम प्रकारसे भेदविज्ञान हुआ है उसके क्रोधादिक नहीं है। इस ज्ञान और कषायका स्वरूप न्यारा-न्यारा है। इनका परस्परमें आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। ज्ञान अपने स्वरूपमें है, कषाय अपने स्वरूपमें है। इन दो प्रकारके भावोंका स्वभावका और विभावका जो भेदविज्ञान कर लेता है वह ज्ञानी भेदविज्ञानके सद्भावके कारण केवल जानता रहता है।

संकट मात्र भ्रम—इस लोकमें संकट केवल भ्रमका है। और तो कुछ संकट ही इस लोकमें नहीं है। जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब एक स्वरूप हैं और अपने जीवसे सब पृथक्-पृथक् सत्ता रखने वाले हैं। इस दृष्टिसे देखो तो अपने आत्माके सिवाय अन्य कोई भी आत्मा अपना नहीं है, चाहे कोई घरमें उत्पन्न हुआ है, चाहे आपको दोस्त मानने लगे हों, कोई आपके कुछ नहीं है। जब स्वरूपकी दृष्टिसे देखा तो कौन गैर है? जितने भी जीव हैं वे सब हमारे ही स्वरूप वाले तो हैं। हम किससे मुँह मरोड़े और किससे प्रेम करें? यहाँ सब अंधकार है। स्वरूपदृष्टिसे देखनेपर ये सब जीव एक समान दिखते हैं और भेददृष्टिसे देखनेपर सब जीव पृथक् दिखते हैं। और अपने सहज ज्ञानस्वभावके अतिरिक्त सब जीव अपनेसे न्यारे दिखते हैं। ऐसा जो ज्ञानी जीव है वह अपने ज्ञानीपनको नहीं छोड़ सकता है।

निर्भान्त दशामें भ्रमकी असंभवता—किसी सामने पड़ी हुई रस्सीमें यह भ्रम हो जाय कि यह साँप है तो कितना आकुलित होता है और जब निकट जाकर जान लेता है कि यह तो कोरी रस्सी है, ऐसा मात्र ज्ञान होनेके बाद फिर घबड़ाहट नहीं रहती है और ऐसा जाननेके बाद जो उसके ज्ञान जागृत हुआ उस ज्ञानको फिर कौन मेटेगा? कोई मित्र आकर कहे कि भाई मेरे कहनेसे इस रस्सीको साँप जान लो और वैसेही आकुलित हो तो क्या वह ऐसा कर सकता है? नहीं कर सकता है। एक बार यथार्थ ज्ञान हो जाय और उसको टटोलकर स्पष्ट ज्ञान कर ले, फिर मित्रके समझानेसे या किसीके कहनेसे वह रस्सीको साँप जान ले क्या ऐसा हो सकता है? नहीं।

यथार्थज्ञान होनेपर ज्ञानित्वका अपरिहार—यथार्थ भेदविज्ञान होनेके बाद फिर यह अपने ज्ञानीपनको नहीं छोड़ता। जैसे तीव्र अग्निमें तपाया गया स्वर्ण अपने स्वर्णपनेको नहीं छोड़ता है इसी प्रकार कर्मोदयको प्राप्त हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभावको नहीं छोड़ता। स्वर्णको कितनी ही बार अग्निमें तपावो, क्या तपानेसे स्वर्ण अपने स्वर्णपनेको छोड़ देगा? नहीं, बल्कि स्वर्णको अग्निमें तपानेसे स्वर्णत्वके और कांति बढ़ जायगी। ज्ञानी जीवके कैसे ही कर्मोका उदय हो, पर उन कर्मोके विषाकमें यह कहीं अज्ञानी न बन जायगा। यह तो ज्ञानीपनेके स्वभावको न छोड़ेगा। कितनी ही तीव्र उपसर्ग हों, कर्मोके उदयसे वह संतप्त हो फिर भी भेदविज्ञानी जीव शुद्ध आत्माके सम्बेदनको नहीं छोड़ता है।

उपसर्गमें भी ज्ञानीका ज्ञानित्व—जैसे सुकुमाल, सुकौशल, पांडवोंपर और भी अनेक महापुरुषोंपर कितने ही उपसर्ग आए पर उन उपसर्गोंके समय वे अपने शुद्ध ज्ञानसे विचलित हुए। यह सब ज्ञानकी महिमाहै। जैसे रस्सीको रस्सी जान ले कोई, फिर कोई चाहे मुक्का घूँसा मारे पर कहे कि अरे तू इस रस्सीको साँप जान, तो क्या वह रस्सीको साँप समझ सकता है? नहीं। बस इसी प्रकार जिसने आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन कर लिया है और सर्व साधारण शुद्ध तत्त्व समझ लिया है वह कितने ही परिसह और उपसर्गमें पड़ जाय, किन्तु यथार्थ जान लेनेसे वह उल्टा जान कैसे सकता है? शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्बेदन और सहजानन्दका अनुभवन जो किए है वह तो नहीं

मिटाया जा सकता है। ऐसे उपसर्गमें जब वह निर्विकल्प समाधिमें रत है उस कालमें सुख दुःखका भी ज्ञान नहीं है और कदाचित् निर्विकल्प समाधिमें रत नहीं है, किन्तु ध्यान अवस्थामें है उस कालमें वह परिणमन ज्ञेयमात्र रहता है कि यह भी ऐसा हो रहा है।

भेदविज्ञानका अलौकिक बल—भेदविज्ञानकी कितनी पराकाष्ठा है यहाँ कि जैसे दूसरेके बुखारका दूसरा पुरुष ज्ञानकी कर सकते हैं दुःख नहीं भोग सकता, इसी प्रकार ये भी सर्व आत्मासे भिन्न वस्तु है, ऐसा भेदविज्ञान उनके दृढ़ होता है जो ज्ञातामात्र रहते हैं। फिर उससे कोई नीचे दर्जेकी तीसरी परिस्थितिमें कदाचित् कुछ वेदना भी जागृत होती है तो वह सामान्य रूपसे होती तो है, किन्तु ज्ञानबलके प्रतापसे उस वेदनाको नगण्य मानकर वह अपने कार्योंमें प्रवृत्त होता है। साधु-संतोंके उपसर्गके समयमें ये तीनों प्रकारकी परिस्थितियाँ होती हैं। सो जो जैसे विकास वाला साधु है वह अपने आपमें उस योग्य विकासको करता है। किन्तु ज्ञानी ज्ञानीपनेके स्वभावको नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारो विरुद्ध कारण जुट जाये तो भी स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता। यदि उस स्वभावको भी दूर कर दिया जाय तो वस्तुका तो अत्यन्त अभाव हो जायगा।

ज्ञानीके ज्ञानका अनुच्छेद—ज्ञानीका ज्ञान है शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना। यदि ज्ञाताद्रष्टा रहना नष्ट हो जाय तो अब वह ज्ञानी ही क्या रहा, और ज्ञान ही न रहा तो आत्मा ही क्या रहा? वस्तुका उच्छेद हो जायेगा, पर वस्तुका उच्छेद नहीं है। जो सत् पदार्थ है उसका नाश असम्भव है। ऐसा जानता हुआ कर्मोंसे आक्रान्त भी ज्ञानी हो रहा है तो भी न राग करता है, न द्वेष करता है, और न मोह करता है, किन्तु शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है।

ज्ञानीके ज्ञानकी एकरूपता—आत्मा ज्ञानमात्र है, उसका काम जानना है। और अयथार्थ जाननका अदल-बदल होता है पर यथार्थ जाननका अदल बदल नहीं होता है। जहाँ यह ज्ञान हुआ कि लो यह मैं तो ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ जो कुछ कर सकता हूँ अपनेमें कर सकता हूँ, उसका जो फल मिलता है वह अपने लिए मिलता है। अपने ही परिणमनसे हटकर अपने ही परिणमनको करता हूँ और ये सब अपनेमें किया करता हूँ। मेरे स्वरूपका किसी भी अन्य पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जो पुरुष जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है। अर्थात् समस्त परपदार्थोंसे भिन्न और उन सब परका निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले विभावोंसे भिन्न केवलज्ञान ज्योतिमात्र मैं हूँ इस प्रकारका अनुभव करता है।

संकटसे छूटनेकेलिये मोहीका संकटरूप यत्न—भैया! जगतके जीव जितना भी यत्न करते हैं वे सब सुख पानेके लिए करते हैं और आनन्दकी प्राप्ति इस जीवको शुद्धज्ञान से ही हो सकती है। इस जीवको जितने भी संकट हैं वे सब भ्रमसे हैं। घरमें रहकर अच्छे मजे मौजके परिवारको देखकर आनन्द मानते हैं वे सब भ्रमसे हैं। घरमें रहकर अच्छे मजे मौजके परिवारको देखकर आनन्द मानते हैं, सम्पदा बढ़ती है तो खुश होते हैं अथवा कुछ अपनी ही गोष्ठीके बीच कुछ दिलचस्प बातें मनके अनुकूल होती हैं तो आनन्द मानते हैं, किन्तु यह सबका सब जो कुछ गुजर रहा है यह

जीवपर संकट है। क्या धन इस जीवका सहायक होगा? नहीं। मृत्युके बाद तो साथमें रंच भी न जायगा और जब तक जीवित है तब तक भी सुखका विषय नहीं बन सकता, किन्तु धनपर ही सबकी दृष्टि है, धन कम है तो दुःखी रहते हैं और अधिक है तो तृष्णामें व्याकुलता रहेगी। ये सब-के-सब जिन्हें कहते हैं पुण्य, वैभव, वे सब संकट हैं इस जीवपर।

संकट मेटनेका उपाय—इस जीवके संकट मेटनेका उपाय है शुद्ध ज्ञानका अनुभव होना। यह संसार एक जाल है, गोरखधंधा है। इससे निकलना कठिन भी है और बड़ा सुगम भी है। अहो इसी समय सर्व परका विकल्प त्यागकर अपने इन्द्रियमनको संयत करके अन्तरमें ही कुछ निरखा जाय तो लो इसी समय सुख हो गया और इतनी बात नहीं की जा सकती है तो सुख कभी मिल ही नहीं सकता। कैसे लावोगे, कहाँसे लावोगे सुख? जड़ वस्तुओंमें तो सुख गुण है ही नहीं। उनका संचय विग्रह किया तो सुख आयगा कहाँसे? अन्य जीवोंमें सुख गुण तो है मगर उनका सुख गुण उनके ही लिए है, मेरे लिए नहीं है। ऐसा जो वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है और जो शुद्ध आत्माको जानता है वह संकटसे दूर हो जाता है।

भेदविज्ञान बिना आत्माकी उपलब्धिका अन्य उपाय नहीं—जिसके भेदविज्ञान नहीं है वह भेदविज्ञानके अभावसे अज्ञान अंधकारसे आच्छन्न होकर, डूबकर, तिरोहित होकर चैतन्य चमत्कार मात्र आत्माके स्वभावको न जानता हुआ, रागादिकको ही आत्मा मानता हुआ राग करता है, द्वेष करता है, मोह करता है। वह परसे विविक्त इस निज शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता।

शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिका प्रताप—शुद्धके मायने हैं सबसे न्यारा। न्यारा बन जाय, शुद्ध पर्याय तो अपने आप हो जायगी। केवल ज्ञानपरिणमन करनेके लिए उद्यम नहीं करता है। वह तो स्वयं होगा। यत्न तो इस बातका करना है कि परपदार्थोंमें मैं हूँ, मुझमें पर हैं, मैं इस रूप हूँ, इस प्रकारका जो परमें सम्मिश्रण हो रहा है उस परके उपयोगसे हटना है और सबसे न्यारे विविक्त केवल अपनेको स्वभावमात्र निरखना है। ऐसी दृष्टि यदि कुछ क्षण तक लगातार रह जाय, अन्तर्मुहूर्त तक लगातार निर्विघ्न रह जाय तो इस अनन्त ज्ञानके अनुभव में ही सामर्थ्य है कि बिना चाहे, बिना उपयोग लगाए, बिना बुद्धि किए समस्त लोकालोकका एक साथ ज्ञान हो जाता है। भैया! जिसमें लोग सुख मान रहे हैं, घर गृहस्थीमें, धन वैभवमें, ये सब शुद्ध ज्ञान विकासके बाधक हैं। तो जो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखेगा उसको सर्व कुछ प्राप्त होगा। इससे यह निश्चय करना कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

भेदविज्ञानके स्थान—अब भेदविज्ञान कितनी श्रेणियोंमें हो गया? स्पष्ट पृथक् तो धन वैधव मकान हैं, सो इन्हें प्रथम ही भिन्न निरखना चाहिए। फिर इनके बाद जो चेतन पदार्थ हैं पुत्र, मित्र, स्त्री इन सबको अपनेसे भिन्न देखना, तीसरे भिन्न देखना इस देहसे? जिस देहसे एक क्षेत्रावगाह रूपसे ठहरा है। इस देहसे न्यारा देखना, यह भेदविज्ञान तीसरी श्रेणीका है। उससे उत्कृष्ट इसके पश्चात् जैसे कि आगमके द्वारा जाना गया है और बुक्तियों से समझा गया है, ज्ञानावरणादिक द्रव्य

कर्मसे भिन्न अपनेको तर्कें यह हुई चौथी बात। पांचवीं बात इन कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जो रागद्वेषादि भाव होते हैं उन रागद्वेषादि भावोंसे अपनेको न्यारा समझो। ७वीं बात जो इतना जाननमें परिवर्तन चल रहा है चद्यपि उन परिवर्तनोंका सम्बन्ध रागद्वेष भावोंसे नहीं है, रागद्वेष पहिले थे इस संस्कारके कारण रागद्वेषमें मिट जानेपर जो ज्ञप्ति परिवर्तन रहता है, जाननकी अस्थिरता रहती है उस ज्ञप्ति परिवर्तनरूप क्रियासे भी अपनेको भिन्न समझना है फिर इसके पश्चात् शुद्ध आत्माकी उपलब्धिके प्रतापसे केवलज्ञान प्रकट होगा, किन्तु प्रकट होने वाले उस केवल ज्ञानसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको देखो।

ज्ञानस्वभावकी अनुभूति केवलज्ञान—भैया! केवलज्ञान अभेद स्वानुभूतिके पश्चात् प्रकट होता है, अनादिसे नहीं है। वह समय-समय पर उत्पन्न होता है। प्रति समय नीवन नवीन ज्ञान, ज्ञानरूपसे परिणाम करता है। यह मैं स्वतःसिद्ध अनादि अनन्त ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, यों समस्त पर और परभावोंसे और समस्त पर्यायोंसे भी न्यारा ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको देखना यह है भेद विज्ञानका फल। पहिले हुआ भेदविज्ञान उससे किया परसे अपने को न्यारा, फिर भी इस ही कर्मके फले परको छोड़कर केवल निजको ग्रहण किया और अब केवल निजमें ही ग्रहण करने लगा। ऐसे भेदविज्ञानके फलमें जो अभेद ज्ञान प्राप्त किया उस अभेद ज्ञानमें इतनी सामर्थ्य है कि भव-भवके भी बाँधे हुए कर्म क्षणमात्रमें ही खिर जाते हैं और यह निर्मल आत्मा लोकालोकका ज्ञाता हो जाता है।

आनन्दमय पदकी प्राप्तिका मूल उपाय आन्तरिक भेदविज्ञान—जीव तो ज्ञान और आनन्दमें सहज तन्मय है। कहींसे ज्ञान और आनन्द लाना नहीं है। बस केवल इसने जो ऊधम कर रखा है विवेक करके उन। ऊधमोंको, विभावोंको दूर करना है। परमात्मत्व तो स्वयमेव प्रकट होता है। जरा निरूपित भेदविज्ञानको पुनः उपयोगमें लायें, घरसे मैं न्यारा हूँ इसको दुनिया कहती है। देहसे भी जुदा हूँ इसे भी दुनिया मानती है पर अपने आपमें उत्पन्न होने वाले ज्ञान और कषाय इन दोनोंमें भेद किया जाना सफल भेदविज्ञान है। जैसे कभी लोग कहते हैं ना कि एक मन तो कहता है कि अमुक काम किया जाय और एक मन कहता है कि यह काम करने योग्य नहीं है। वे दो मन हैं क्या? अरे वे कुछ नहीं है। वे ज्ञान और कषायके प्रतीक भाव हैं। कषाय कहता है कि ऐसा कर डालना चाहिए, तब ज्ञान कहता है कि यह करने योग्य नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और कषायमें प्रकट स्वरूपभेद है।

स्वरूपभेदसे वास्तविक भेद—एकका दूसरा क्या लगता है? भिन्न प्रदेश हैं, भिन्न सत्ता है, भिन्न स्वरूप है। इस ज्ञान और कषायका तो आधार-आधेय भेद भी नहीं है कि कषायमें कषाय स्थित है व ज्ञानमें ज्ञान स्थित है। तब फिर क्या है? स्वरूप प्रतिष्ठितत्व सम्बन्ध है। ज्ञान अपने जाननस्वरूपमें है, कषाय अपने गुस्सा आदिकके रूपमें स्थिति है। ज्ञानमें कषाय नहीं है, कषायमें ज्ञान नहीं है ऐसे अपने आपमें ही स्वभावको तिरोहित करके उत्पन्न होने वाले कषाय और स्वभावमें

भेद किया जा रहा है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। यह कषाय परभाव है। इसमें तो आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं।

ज्ञान और कषायकी अनाधाराधेयतापर एक दृष्टान्त—जैसे आकाश जुदा है और ये मकान आदिक जुदा हैं। आकाशमें मकान नहीं हैं मकानमें आकाश नहीं है। अथवा मोटेरूप में चाहे समझ लो कि एक घरमें ही दो भाई रहते हैं, किन्तु उनका किसी कारण चित्त परस्परमें फट जाय तो उस भाईका वह कुछ नहीं है। उसमें वह नहीं, उसमें वह नहीं। इसी प्रकार जितनी भी जगतके पदार्थ हैं इस सब पदार्थोंका स्वरूप फटा हुआ है, बंटा हुआ है। आकाश भी यहीं है और ये मकान आदिक भी यहीं हैं, किन्तु आकाशका अस्तित्व आकाशमें है। आकाशके प्रदेश आकाशमें ही हैं, आकाशमें मकान नहीं, मकानमें आकाश नहीं। व्यवहारदृष्टिसे तो यद्यपि यह साफ नजर आ रहा है कि आकाशमें ही तो मकान है, पर स्वरूपदृष्टिसे देखें तो मकानमें मकान है, आकाशमें आकाश है। उनमें आधार-आधेयका सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान और कषायकी अनाधाराधेयतापर दूध पानीका दृष्टान्त—जैसे और दृष्टान्त लो। पावभर दूधमें पावभर पानी मिल गया, वे एकमें मिल जानेसे एक रस हो गए, पर दूधमें पानी नहीं है और पानीमें दूध नहीं है। दिखनेमें ऐसे न्यारे नहीं आते हैं, किन्तु आग पर गर्म करनेसे वे न्यारे-न्यारे स्पष्ट मालूम होते हैं। पानी तो भाप बनकर उड़ जाता है और दूध रह जाता है। दूधमें दूध था और पानीमें पानी था। वे दोनों तन्मय नहीं हो गए थे। इस प्रकारकी भेदयुक्तिसे दूधमें दूध रह गया और पानीमें पानी रह गया। इसी प्रकार एक ही क्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल छहो बराबर रह रहे हैं। फिर भी किसीमें कोई दूसरा नहीं है। आकाशमें पांचों द्रव्य नहीं हैं। जीवमें पांचों द्रव्य नहीं हैं। किसी भी द्रव्यमें बाकी कोई द्रव्य नहीं है।

सम्यक्त्व भावकी आदेयता—भैया! सबसे उत्कृष्ट भाव है यह सम्यक्त्व भाव। यदि सम्यक्त्व प्रकट होता है तो फिर अन्य वस्तुओंका महत्व क्या है? 'चक्रवर्ती सम्पदा इन्द्र सरीखे भोग। काकवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग।' अपने आपके स्वरूपकी महिमा जब तक अपने आपको न मालूम हो तब तक अपनेको दीन समझना चाहिए और जब अपने स्वरूपकी महिमा अपनी समझमें आ जाय तब यह समझना चाहि कि हम अब सत्पथपर हैं। अपनी ऋद्धि समृद्धिपर ध्यान देनेसे निराकुलता होती है। जितनी शक्ति बने उतना करो, पर शक्ति न हो तो श्रद्धासे न चिगो। श्रद्धासे चिग जानेपर फिर इस जीवका हित नहीं हो सकता है।

इस प्रकार इदो गाथावोंमें यह वर्णन किया गया है कि शुद्ध आत्माके अनुभवसे ही हित होता है और शुद्ध आत्माकी प्राप्ति भेदविज्ञानसे होती है। इसलिए सर्व प्रयत्न करके मूलमें स्वभाव और विभावका भेदविज्ञान उत्पन्न कर लेना चाहिये। अब शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे सम्वर किस तरह होता है, ऐसा प्रश्न होनेपर इसमें समाधानमें यह गाथा कही जा रही है:

**सुद्धं तु पियाणंतो सुद्धं चवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १८६ ॥**

जो जीव शुद्ध आत्मतत्त्वको जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है और जो अशुद्धको ही जानता है वह अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है ।

शुद्ध आत्माकी उपासनाका परिणाम—जो महात्मा नित्य ही अविच्छिन्न अरावाही ज्ञानसे अर्थात् ऐसे ज्ञानसे जिस ज्ञानकी धारा कभी न टूटे ऐसे ज्ञानसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करते हुए रहता है तो ज्ञानभावसे ज्ञानमय ही भाव होता है, इस कारण भिन्न जो कर्मास्रवणका निमित्त है, रागद्वेष मोहकी संतान है उनका निरोध होनेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है । जो अपने आपको ही परतत्त्व जानता हैं अन्य किसीको नहीं जानता, वह अपने आपके प्रदेशों को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता । अपने गुणोंका प्रयोग अपने आपके द्रव्यमें होता है, द्रव्यपर होता है, अपने द्रव्यके लिए होता है । इस कारण ज्ञान गुण एक जो किया करता है वह आत्माके प्रदेशोंमें करता है, अपने आप ही करता है, अपने को ही करता है । इस कारण वस्तुतः यह आत्मा अपने आपको ही जानता है, परको नहीं जानता ।

दृष्टिके अनुसार सृष्टि—अब अपने आपको कैसा जाने यह आत्मा की अपनी अशुद्ध सृष्टि करते या अपनी शुद्ध सृष्टि करते । यदि अपनेको शुद्ध ज्ञानस्वभावमय जानता है तो इसकी सृष्टि शुद्ध ज्ञानमय होगी । यदि विकाररूप अपनेको समझता है तो इसी सृष्टि विकाररूप होगी । यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुष सराग अवस्थामें रागसहित परिणमता है, रागसे दूर नहीं हुआ है, अवस्था रागकी चल रही है, तिस पर भी ज्ञानी पुरुषमें ऐसी ज्ञानकला है कि जिस ज्ञानकलाके द्वारा यह अपने आपको विकाररहित शुद्ध स्वभावरूपमें देखता है । बस इसका समस्त पुरुषार्थ यथार्थ जाननमें है । यथार्थ जान लेने वालेके प्रतिपक्षमें कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि इस आत्माको दुःखी कर सके । यथार्थ नहीं जानता और दुःखी हो रहा है । निजको निज परको पर जान, यही यथार्थ ज्ञानका चिन्ह है । स्वयं यह जैसा है जितना है उतना यह अपनेको माने, शेष समस्त परद्रव्य जितने हैं जैसे हैं उनको वैसा मानें तो यह कहलाता है यथार्थ ज्ञान ।

उपयोगके अनुसार परिणतिका गुजरना—जिस प्रकार उपयोग होता है उस प्रकारकी ही बात गुजरती है । यह जीव जब अपनेको परिवार वाला हूँ, घर वाला हूँ, मैं अमुक हूँ, अमुक कुलका हूँ, इस प्रकारसे मानता है उसे आकुलताएँ निमयसे आयेंगी, क्योंकि उसने अपनेको यथार्थरूप माना । उपयोगका आश्रय जब परद्रव्य होता है तब चूँकि वे समस्त परद्रव्य भिन्न हैं और पर्याय रूपमें आए हैं इस कारण अध्रुव हैं । सो उन परद्रव्यों के मिट जानेके कारण यह क्लेश करेगा ही । सो जिसकी दृष्टि अपने आपपर ऐसी उपयोग रूप है जिस उपयोगके कारण परसे सम्बन्ध करना पड़ता है वह उपयोग इसकी आकुलताओं का जनक है, किन्तु जहाँ यह ज्ञानी आत्मा अपने सहज अशरण भावरूप अपनेको मानता है उस समय कोई क्लेश नहीं होता ।

अपने आपको जैसा माने उसपर सुख-दुःखकी निर्भरता भैया! अपनेको कैसा मानें इसपर ही सुख दुःख निर्भर है। सुख दुःख होनेकी जड़ यही है। बाह्य पदार्थोंमें निग्रह-अनुग्रह करनेमें सुख-दुःखकी व्यवस्था नहीं है। सिफ इतने पर ही सुख-दुःखकी व्यवस्था निर्भर है कि मैं कैसा हूँ इसे जैसा मानें। जहाँ यह माना गया कि मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक पोजीशनका हूँ, इस रूपसे जब अपनेको माना गया तो यह अयथार्थ बात हुई। क्या ये कुल, जाति, पोजीशन आदि आत्माके स्वरूप हैं? नहीं। अस्वरूप रूप अपनेको माने तो वहाँ क्षोभ होगा ही और कुछ क्षणोंके लिए सब विकल्पोसे हटकर बाहरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल सबका ध्यान भुलाकर केवल स्वयं यह अपने आप जैसा है ज्ञानज्योति ऐसा ही उपयोगमें लें। जो अमूर्त है किन्तु आनन्दका अविनाभावी है ऐसा जाननस्वरूपमात्र अपने को उपयोगमें लें तो चूँकि वहाँ किसी परका ख्याल ही नहीं है तो उसे क्षोभ किस बात पर हो?

परद्रव्यके अनाश्रयसे क्लेशमुक्ति जितने क्षोभ होते हैं उन क्षोभोंका विषय परपदार्थ होते हैं। कोई परपदार्थ ख्यालमें न रखे और क्षोभ या दुःख हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसी कारण जैनदर्शनमें अशांति मेटनेके लिए स्वद्रव्यका आश्रय कराया है, परद्रव्यका आश्रय छुड़ाया गया है। स्वद्रव्यका आश्रय कैसे हो, इसका उपाय है भेदविज्ञान। परसे हटना स्वमें लगाना यह बात भेदविज्ञान बिना नहीं होती। जब कि कोई लोग ईश्वर मर्जीपर ही अपना मोक्ष समझते हैं। भक्ति किए जावो, जब भगवानके मनमें आयगा तक अपना मोक्ष हो जायगा, किन्तु अपने आपमें परमात्मस्वरूपकी श्रद्धा लेना और अन्य सबको भूल देना यही मुक्तिका उपाय है। ऐसा होनेके लिए ही हम ऐसे स्वरूप वाले रूपका ध्यान करते हैं। भेदविज्ञानसे ही परसे निवृत्ति और स्वमें वृत्ति हो सकेगी।

पदार्थों के यथार्थ ज्ञानपर कल्याणकी निर्भरता भैया! भेदविज्ञान कब जो जब स्व व परका भिन्न-भिन्न स्वरूप हमारे ध्यानमें जमे। कब जमे? जब हम उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचान लें, इस विषयका बहुत अधिक विवेचन जैनसिद्धान्तमें है। पदार्थोंके यथार्थस्वरूपके ज्ञानपर हम-आपका कल्याण निर्भर है। पदार्थोंमें २ प्रकारके गुण हैं। एक तो ऐसा गुण जो सभी पदार्थोंमें मिल जाय। क्या ऐसे गुण नहीं होते जो सभी पदार्थोंमें मिलें? जैसे अस्तित्व है, सत्ता है, क्या जीवमें ही है, पुद्गलमें नहीं है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंमें वस्तुत्व होता है अर्थात् अपने स्वरूपसे ही होना, परके स्वरूपसे नहीं होना, यह बात किसी एकमें नहीं पाई जाती है। जितने सत् हैं? उन सबसे यह बात पाई जाती है कि वे अपने स्वरूपसे हैं और परके स्वरूपसे नहीं है? यदि ऐसा न हो तो अस्तित्व भी नहीं रह सकता। कोई द्रव्य अपने स्वरूपसे भी हों और परके स्वरूपसे भी हों तो फिर वह वस्तु ही क्या रही? वस्तुत्व हो तो अस्तित्व सम्भव है अन्यथा सत्ता भी असम्भव है। अपने स्वरूपसे रहना क्या यह सब द्रव्योंमें सम्भव नहीं है? तो वस्तुत्व भी सब द्रव्योंमें पाया जाता है और प्रत्येक समय परिणमन चलता रहता है। ऐसे भी गुण पदार्थोंमें हैं कि नहीं हैं। इस कारण द्रव्यत्व गुण भी प्रत्येक पदार्थोंमें है। और वह अपनेमें ही परिणमता है, परमें नहीं, यह अगुरुलघुत्व गुण है। इन गुणोंसे वस्तुकी स्वतन्त्रता ज्ञात होती है।

खुदके परिचयकी कठिनताका कारण—भैया! यह भेदविज्ञान का प्रकरण है। संवर भावका अधिकार है। इस जीवने अब तक सब कुछ काम भोग सम्बन्धी कथा सुनी वही इन्हें रुचिकर हुई। इनका ही इन्हें परिचय हुआ, पर आत्महित करने वाली कथा, आत्मकथा, वस्तुस्वरूपकी कथा अब तक सुननेमें नहीं आई, परिचयमें नहीं आई, अनुभव में नहीं आई, इस कारण संसारी जीवके अपने पतेकी बात अनहोनीसी मालूम होती है। पर अपना ही परिचय अपनेको न मिल सके यह तो बड़े विषादकी बात है। खुद है और खुदको न जान सके, इसके जाननेकी तरकीब भी बहिर्मुख और अन्तरमुख दोनों प्रकारसे हैं किन्तु बहिर्मुख पद्धतिसे तो केवल स्वरूप को जान लेगा व अन्तर्मुख पद्धतिसे आत्मामें उतारता हुआ जान सकेगा।

असाधारण गुणके साथ पाये जाने वाले साधारण गुणोंकी चर्चा—यह सब पदार्थों की चर्चा है। पदार्थोंका सही-सही स्वरूप जाने बिना भेदविज्ञान नहीं हो सकता। भेदविज्ञान हुए बिना आत्माकी प्रतीति नहीं हो सकती। आत्माकी प्रतीति हुए बिना शांति नहीं मिल सकती। समस्त पदार्थ कुछ ऐसा-गुणोंरूप हैं जो गुण सभी पदार्थोंमें पाये जाते हैं और सभी पदार्थ ऐसे असाधारण गुण रूप हैं जो केवल उस ही जातिमें पाये जायें और अन्य जातिके द्रव्योंमें न पाये जायें। अभी साधारण गुणोंकी चर्चा चल रही है। अस्तित्व वस्तुत्व और द्रव्यत्व ये गुण सभी पदार्थोंमें है। और आगेके तीन गुण ऐसे हैं जो सब पदार्थोंमें पाये जाते हैं। जैसे वस्तुके परिणमनका स्वभाव तो है किन्तु क्या वस्तु अटपट रूप परिणम सकती है? क्या मैं शरीररूप परिणम जाऊँ? नहीं परिणम सकते हैं।

क्या नारकी तलवार बन जाते हैं—आप प्रश्न कर सकते हैं कि नारकी जीव जिनको अपृथक् विक्रिया है वे जब चाहें जब नारकीको तलवारसे मारें तो वे तलवार वाले हो जाते हैं। उनको तलवार ढँढ़नी नहीं पड़ती। तो वे नारकी तो तलवाररूप परिणमते? उत्तर वहाँ ऐसी असाता है कि नारकी चाहे कि तलवारसे मारूँ तो जैसे ही उसने मारनेके लिए हाथ उठाया और इच्छा कि की यह हाथ ही तलवाररूप परिणम जाता है। उनका यह शरीर ही तलवाररूप बनता है। कहीं बाहरसे कोई चीज उठाकर तलवार नहीं बनाया वह तलवार देहका प्रसार है। जैसे यहाँ भी बहुत चीजें तो नहीं बन सकती हाथसे, मगर कलछली भी बना सकें, चमीटा भी बना सकें, कांटा भी बना सकें, और मुग्दर भी बना सकें। कितनी ही चीजें अपन भी यहाँ हाथसे थोड़ी-थोड़ी बना लेते हैं पर अपनी विक्रिया नहीं है इसलिए इस हाथका ही तरेड़ बरेड़ करके किसी रूप बना लेते हैं, पर नारकी जीवके अपृथक् विक्रिया है। वह इच्छा करते ही अपनेको सर्परूप बना ले, बिच्छूरूप बना ले यह सब उनके शरीरका विस्तार है।

सिंहादिकरूप भी नारकशरीरकी विक्रिया—जैसे कहते हैं कि इस जीवको सिंह खाता है, तो वहाँ सिंह कहाँ रहता है? जब वह नारकी यह ख्याल करता है कि मैं इसे सिंहरूप बनकर खाऊँ तो वह सिंहरूप बनकर उसको पीड़ित करता है। वह सिंहरूप भी नारकी जीवके शरीरका विस्तार

है। यों अपने आपमें ही अपनेको परिणमाता है, किसी दूसरी वस्तुको नहीं परिणमता है। वस्तुओंमें परिणमनका स्वभाव पड़ा है, परिणमते रहते हैं पर अपनी जातिरूप परिणमंगे, परकी जातिरूप न परिणमंगे।

तो यह भी गुण सब द्रव्योंमें हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही रूप परिणमेगा, दूसरेके रूप न परिणमेगा। इसको बोलते हैं अगुरुलघुत्व और प्रत्येक पदार्थ प्रदेशमें है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है कि है और, आकार कुछ भी न हो। चाहे अमूर्त आकार हो या मूर्त आकार हो। यह प्रदेशवत्त्व भी सभी पदार्थोंमें है और सभी पदार्थ किसी न किसी प्रकारके ज्ञानके द्वारा प्रमेय हैं। ऐसा प्रमेयत्व गुण भी है। यों समस्त द्रव्योंमें चाहे अमूर्त द्रव्य हो, चाहे मूर्त द्रव्य हो, पर सभी द्रव्योंमें ६ साधारण गुण होते हैं। यह तो साधारण गुणोंकी बात कही है।

असाधारण गुण भेदविज्ञानका आधार—प्रत्येक पदार्थमें असाधारण गुण भी होते हैं, जो अपनी जातिमें रह सके, किन्तु दूसरेकी जातिमें न रह सके। चेतन गुण जीवके ही न मिलेगा, पुद्गल आदिक द्रव्योंमें न मिलेगा। पुद्गलोंमें मूर्तिकता गुण मिलेगा, रूप, रस, गंध, स्पर्शमयता मिलेगी, अन्य द्रव्योंमें न मिलेगी। तो यह जो भेदविज्ञान होता है वह सर्व गुणोंसे नहीं होता है किन्तु असाधारण गुणोंसे होता है। साधारण गुणोंसे इसकी सुरक्षा रहती है। आत्मामें जो चैतन्य नामक असाधारण गुण है उसके कारण इसकी जो सृष्टि होती है वह चेतनात्मक होती है।

सोपाधिदशामें ज्ञानके करण—उपाधिसम्बन्धसे ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण ५ इन्द्रियाँ और एक मन है। इस प्रकार ६ उत्पन्न होते हैं। इन ६ कारणोंके द्वारा यह जीव जानता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये तो स्पष्ट हैं पर एक अंतःकरण है जो लोगों को दिख नहीं सकता। भीतर ही है। उसका नाम है मन, और यही अंतःकरण आजके बतानेमें दिल और मस्तिष्क दो रूपोंमें माना गया है। शास्त्रोंमें मनको अनवस्थित कहा है। यह मन अनवस्थित है। भावमन तो अनवस्थित है ही और द्रव्यमन भी अनवस्थित है। ये कुछ इस प्रकारके रंग तरंग वाले हैं कि ये अपना आकार भी कुछ हद तक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें करते हैं और इनका भाव तो अत्यन्त ही अनवस्थित है। जैसे कि लोग कहा करते हैं कि यह मन थोड़ी क्षणोंमें किधर है और हजारों मील जानेमें इसे एक सेकेण्ड भी नहीं लगता। भीतरमें विकल्पोंके भी नाना परिणमन हैं।

मनकी अनवस्थितताका एक उदाहरण—एक श्रावकने अपने मित्र साधुके सम्बन्धमें समवशरणमें पूछा प्रभो! अमुक साधुका इस समय कैसा परिणाम है? उत्तर मिला कि इससे एक ही सेकेण्ड पहिले ऐसा परिणाम था कि यह मरकर ७वें नरकमें जाता किन्तु इस समय उसके अन्दर ऐसा परिणाम है कि वह ७वें स्वर्गमें उच्च देव होगा। तो मनकी अवस्थितताको हम आप सब जानते हैं। क्षणमें क्रूर परिणाम हो जाय और कुछ क्षणमें ही विशुद्ध परिणाम हो जाय। पर क्रूरता छोड़कर विशुद्ध परिणाममें आ जाना यह ज्ञानी पुरुष से ही बनता है। अज्ञानी पुरुषमें यह साहस नहीं है कि क्रूरता शीघ्र छोड़ सके। बड़ा समय लगेगा। उसका मन क्षण-क्षणमें डोलता रहता है।

मनकी द्विप्रकारीय गति—यही मन दो प्रकारके कामोंका कारण बनता है। एक तो जाननेका कारण और एक प्रीति अप्रीति करनेका कारण। इस मनमें ही ये दो प्रकारके काम हैं। जिस प्रकारतामें यह मन जाननेका कारण है उस प्रकारको कहते हैं मस्तिष्क और जिस प्रकारतामें यह प्रेम करता है, द्वेष करता है उसे कहते हैं दिल। दिल और दिमाग ये दोनों जैनसिद्धान्तमें पृथक् करण नहीं बताये गए हैं, किन्तु एक ही अन्तःकरण है। इस मन में ही दो प्रकारकी कारणता है एक जाननेका करण बनना और एक रागद्वेषका करण बनना।

व्यावहारिक अनुभव और उसका कारण—व्यावहारिक अनुभवमें ऐसा देखा जाता है कि जाननेकी उत्सुकता करता है तब सिरपर या इस मस्तिष्कपर जोर डालता है। और जब प्रेमकी बात है राग अनुराग की और भक्तिकी बात है तब दिलपर जोर पहुँचता है। सो इससे कहीं दो जगह करण नहीं बन गया कि मस्तिष्क सिरमें पहुँचा और दिल वक्षस्थलमें पहुँचा, किन्तु एक ही जगह रचनाकी प्राप्ति मनकी अनवस्थितताके कारण वह अपनी-अपनी प्रकारतामें दो प्रकार के मूड बनाता है। जैसे अपना उपयोग एक है पर इस उपयोगको बाहर की ओर करके भी हम पदार्थोंको जानते हैं तो बहिर्मुखता होकर पदार्थोंको जानना नए ढंग से होता है और इस उपयोगको ही अन्तर्मुख करके हम कुछ जानते हैं तो अन्तर्मुख करके जाननेका ढंग और दूसरी किस्मका है। इसी प्रकार यह मन जब जाननेका साधन होता है तो वह सिरकी ओर उन्मुख होकर कारण बनता है। और यह मन जब रागद्वेषका साधन बनता है तब यह अपने आपमें केन्द्रित होकर, विलीन होकर कारण बनता है।

मनकी वृत्तियाँ—मनकी बहिर्मुखवृत्ति ज्ञानका साधन है और मनकी अन्तर्मुखवृत्ति रागद्वेष का कारण है और ऐसा अब अनुभवमें भी आ सकता है कि जब हम किसीसे राग करते हैं तो हम अपने आपके दिलमें केन्द्रित हो जाते हैं, बैठ जाते हैं, घुस जाते हैं, विलीन हो जाते हैं और आत्मानुभव करते हैं, किन्तु जब इस मनको जाननेके साधनरूपसे बनाते हैं, तब यह मन अपने मूल स्थानसे बहिर्मुख तरंग लेकर अपनी वृत्ति करता है इसलिए दिल और दिमाग दोनों ही मनकी अवस्थाएँ हैं, कोई ७वाँ करण नहीं है कि जैसे ५ करण बाहरी हुए, ऐसे ही अन्तःकरण हुआ मन याने दिल अथवा दिमाग।

असाधारण गुणसे व्यवस्था—चर्चा प्रकृतमें यह चल रही थी कि पदार्थोंके असाधारण गुणके द्वारा परवस्तुओंका भेदविज्ञान हो सकता है। साधारण गुणोंसे वस्तुका भेद नहीं होता है। अस्तित्वसे क्या भेद करें? सभी पदार्थ अस्तित्वमय हैं, इसी प्रकार शेष ५ साधारण गुणोंसे हम पदार्थोंका क्या भेद करें? सभी पदार्थ ६ साधारण गुणोंसे तन्मय हैं। तब भेदविज्ञानके लिए हम पदार्थोंमें असाधारण गुणोंको जाना करते हैं। यहाँ आत्माका असाधारण गुण बताया है चैतन्यस्वरूप। जो मात्र चैतन्यस्वरूपको अविच्छिन्न ज्ञानधाराके द्वारा जानता हुआ शुद्ध स्थित रहता है, ज्ञानघन भावोंसे युक्त हो रहा है, इस कारण वह ज्ञानमय ही होता है और फिर ज्ञानमय भाव हो जानेके

कारण रागद्वेष मोहकी सत्ता रुक जाती है और वह शुद्ध चैतन्यमात्र निराकुल सहज आनन्दमय अनुभवको प्राप्त होता है।

ज्ञानमय भावसे अज्ञानमयभावका निरोध—शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें यह जीव शुद्ध ज्ञानमय होता है। आगे यह कहेंगे कि जब ही यह जीव अपनेको अशुद्ध स्वरूपमें जानता है उस समय यह जीव अशुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है। इस कारण सर्वपदार्थोंसे पृथक् केवल निज असाधारण गुणमय आत्मस्वरूप ही पहिचान कर लेना आत्महितके लिए तो आवश्यक है। जो जीव निरन्तर धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माको प्राप्त करता हुआ ठहरता है उसका ज्ञानमय भाव होता है। सो ज्ञानमय भावसे अज्ञानमय भाव रुक जाता है। रागद्वेष मोह अज्ञानमय भाव हैं। यह अज्ञानमय भाव रुके तो सही फिर ज्ञानका अनुभव होता है।

क्लेशका कारण अज्ञानमयी कल्पनायें—जगतके जीवोंको क्लेश और कुछ नहीं है। अपने आपके प्रदेशमें अपनी कल्पना और ख्याल बनाकर अज्ञानमय भाव उत्पन्न करता है और दुःखी हो रहा है। शांति होनेके लिए बाहरमें कुछ नहीं करना है, अपने आपके अन्तरमें कुछ करना है, किन्तु जो ज्ञानमय भावसे अशुद्ध आत्माको ही देखता रहता है अर्थात् मैं क्रोधी हूँ, मैं चतुर हूँ, मैं धनी हूँ, अमुक जातिका हूँ, अमुक कुलका हूँ इस प्रकार अपने शुद्ध आत्माको देखता है उसका अशुद्ध अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भावसे रागद्वेष भाव नहीं रुक सकते। ज्ञानमय भाव तो रागद्वेष मोहके आस्रवणके ही कारण हैं। अज्ञानमय अपने आपको जानता हुआ वह अशुद्ध आत्माको प्राप्त करता है।

संवरका कारण—इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है। और संवरतत्त्व अद्भुत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यह एक संवर परिणाम है। स्वामी सामंतभद्राचार्यने कहा है कि पाप रुक गया है तो और सम्पदासे क्या प्रयोजन है? सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। पर यदि पाप नहीं रुकता है, आता है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन, क्योंकि पाप तो कर रहे हैं। उसके फलमें तो आकुलता ही होगी। और कर्म विपाकके समयमें भी आकुलताएँ होंगी, सो भैया! अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हूँ घररहित हूँ, शरीर रहित हूँ। और की तो बात क्या, अपने आपमें जो ममता रागद्वेष विभाव परिणाम होते हैं उन परिणामोंसे भी रहित हूँ। मेरे सहज सत्वके कारण इस सहजस्वरूपमें केवल चैतन्य चमत्कारका स्वरूप विलसित होता है। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानानन्दघन हूँ। इसे योगीन्द्र ही समझ सकते हैं, ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव विभाव ये बाह्य चीजें हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशोंसे भी भिन्न हैं और ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मप्रदेशोंमें होते हैं, किन्तु कुछ समयके लिए होते हैं, निमित्त पाकर होते हैं, अन्तरमें स्वरसतः उत्पन्न नहीं होते, इस कारण वे भी बाह्य भाव हैं। वे मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार भेदविज्ञान करनेसे जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है और जो आत्मतत्त्व है

उसमें प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा का उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मोंका संवर होता है।

धारावाही शुद्धावलोकनका फल—पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलसमें कह रहे हैं 'यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते। तदयमुदयमात्माराममात्मानमात्मा परपरिणति रोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति। यदि धारावाही ज्ञानके द्वारा इस ही प्रकार ध्रुव आत्मतत्त्वको प्राप्त करता हुआ शुद्ध आत्माको पाता है, शुद्ध आत्मारूप उपयोगमें ठहरता है तो यह आत्मा उदय होता हुआ अपने आत्माके प्रदेशोंसे, रागद्वेष भावोंसे दूर करके शुद्धतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे सम्बर होता है। क्या करना है? कर्म नहीं आने देना है। इन कर्मोंके आनेके निमित्तभूत जो रागादिक विकार हैं उन रागादिक विकारोंमें उपयोग न लगावो। कर्मोंका उदय आता है, ये होते हैं, पर तुम्हारे ज्ञानमें तो वह बल है कि न उपयोग उसमें लगावें। जब रागादिक विकारोंका उपयोग द्वारा ग्रहण न करेंगे तो ये रागादिक विकार स्वयमेव छूट जायेंगे।

आत्मशरणकी परमार्थरक्षा—इन जीवोंका शरण केवल सम्बरभाव है। विषय कषायोंमें जो अनुरक्ति करते हैं उनके ये रक्षक न होंगे। रक्षक मात्र अपना परिणाम होगा। जिस परिणाममें शुद्ध ज्ञानस्वरूप दृष्ट हो रहा हो, यह एक ध्रुव शुद्ध है। इस आत्मस्वभाव भगवानके ज्ञान बिना यह जीव अब तक रुलता चला आया है और जिस-जिस भवमें जिन-जिन मोही जीवोंका संग मिलता है उन-उन असहाय मोही जीवोंको यह अपना लेता है, किन्तु इस अपनानेका परिणाम तो उत्तम नहीं निकलता। जैसे शासन पानेका तो फल यह है कि अपने आपमें अपने आपको ज्ञानमात्र निरख लें। यह बात जैसे बने तैसे कर लो।

आत्महितैषीकी आत्महितमें प्रगति—आत्मकल्याणके लिए भव्य जीवने न किसीका संकोच किया, न चिंता की, किन्तु जैसे ही यह आत्मदेव आनन्दमय अनुभूत हुआ तैसे ही उनका सारा ढांचा बदल गया। ६ खण्डकी विभूतिमें रहने वाले हजारों राजावोंके बीच अपनी प्रतिष्ठा पाने वाले चक्रवर्ती भी जिस क्षण ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने आत्माके शांत आनन्दमय स्वरूपका स्पर्श करते हैं, उनका एकदम सर्व ढांचा बदल जाता है। मकान वह ही है, रानियाँ वे ही हैं, राजा लोग वही हैं किन्तु उनका झुकाव उन बाह्यकी ओर नहीं रहता है। अपने आत्मतत्त्वकी ओर झुकाव रहता है, और ऐसा झुकाव सारे जीवनभर बना रहा तो कोई अवसर पाकर कदाचित् विरक्त हो जाय तो पूर्व जो पुरुषार्थ किया गया है उसके फल में अन्तर्मुहूर्तमें थोड़े ही दिनोंमें कैल्वयकी प्राप्ति होती है। कोई आग ऐसी होती है कि मालूम नहीं पड़ती। बहुतसे कोयलेमें आग सुलगा दी तो कुछ कोयलोंमें यह मालूम नहीं पड़ता कि जल रहे हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वे दहक रहे हैं, जल रहे हैं। एकदम स्पष्ट फिर वह आग हो जाती है। गृहस्थावस्थामें यह भेदविज्ञानकी आग यदि जल रही है तो लोगोंको पता नहीं पड़ता है उसकी ज्ञानकी महिमा का, किन्तु कोई क्षण पाकर एकदम उसका प्रताप विकसित हो जाता है।

शांतिका उपाय ज्ञानस्वरूपानुभव भैया! शांतिका उपाय कितना ही यत्न करके देख लो अन्यत्र न मिलेगा। जब शुद्ध ज्ञानस्वरूप में हूँ, सबसे जुदा हूँ, आकाशवत् अमूर्त हूँ सो इस रूपमें जो कि यथार्थस्वरूप है, अनुभव करनेपर शांति मिलेगी। चाहे यह अनुभव अभी शीघ्र बना लिया जाय, चाहे यह अनुभव कभी भी बना लिया जाय पर इस यथार्थ अनुभवके बिना आत्मशांति नहीं प्राप्त कर सकते। अब सम्वरकी महिमा सुनकर जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि वह सम्वर किस प्रकारसे होता है? उत्तरमें श्री कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं:

**अप्पाणमप्पणा संधिरुण दो पुण्णपापजोगेसु ।
दंसणणाणमिहि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णमिहि ॥ १८७ ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥ १८८ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविप्पमुक्कं ॥ १८९ ॥**

कुन्दकुन्ददेव सीधे सरल शब्दोंमें कह रहे हैं कि जो आत्मा अपने आत्माको अपने द्वारा पुण्य-पापरूप सभी योगोंको रोककर दर्शन ज्ञानमें स्थित होता हुआ अन्य वस्तुकी इच्छारहित और सर्व संगोंसे मुक्त होता हुआ आत्माके ही द्वारा आत्माको ही ध्याता है तथा कर्म नोकर्मोंको नहीं ध्याता, सो आप चेतता हुआ आत्माके ही द्वारा आत्माको ही ध्याता है तथा कर्म नोकर्मोंको नहीं ध्याता, सो आप चेतता हुआ चेतनारूप होनेसे उस रूपके एकत्वका अनुभव करता है वह जीव दर्शन ज्ञानमय हुआ, और अन्यरूप होनेसे उस रूपके एकत्वका अनुभव करता है वह जीव दर्शन ज्ञानमय हुआ, और अन्यरूप नहीं हुआ करता है, सो आत्माका ध्यान करता हुआ थोड़े ही दिनोंमें कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त होता है।

आत्महितके अर्थ प्रथम कर्तव्य भैया! क्या किया किसने? अपने आत्माको पुण्य और पाप दोनों योगोंसे रोका। यद्यपि पुण्य और पापमें मुकाबलेतन पुण्यभाव भला है क्योंकि पापमें तो विषय और कषायोंकी तीव्रता रहती है और उन परिणामोंसे रहा सहा पुण्य भी बर्बाद हो जाता है। पाप सर्वथा वर्जनीय है। पापकी अपेक्षा पुण्यभाव शुभ है, किन्तु जिसको सदा कालके लिए स्वाधीन शांति चाहिए, और स्वाधीन शांतिका जिसने कदाचित् दर्शन किया है ऐसे पुरुषका उपयोग न पापमें फँसता है और न पुण्यमें फँसता है। वह तो सीधा साक्षात् ज्ञानस्वभाव रूप धर्ममें उपयोगको लगाता है। तो ज्ञानी जीव सर्वप्रथम क्या करे कि पुण्य-पापरूप रोगोंको अपने आत्मासे रोके।

योगनिरोधका परिणाम पुण्यपाप योगोंको रोककर हितार्थी शुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करे यही हुआ ज्ञान और दर्शनमें स्थित होना। जैसे कभी किसी दुकानकी चिंता हो या विदेशमें कोई आपका कारखाना हो और उसकी आप चिंता करते हुए बैठे हों तो बातें करने वाला या वक्ता यह पूछता

है कि इस समय तुम कहाँ हो? तो वह बीती बातका जवाब देता है कि हम मुम्बईमें थे। याने मुम्बईकी सोच रहे थे काम-काजके बारेमें तो वह कहाँ स्थित हुआ? बोम्बेमें स्थित हुआ। अपने प्रदेशकी बात नहीं कह रहे हैं। वह अपने असंख्यात प्रदेशोंमें ही स्थित है, किन्तु उपयोग द्वारा बाम्बेमें स्थित है। अच्छा समस्त परद्रव्योंका विकल्प त्यागकर यदि कोई आत्माके उस शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूपमें अपना उपयोग लगाये तो बतावो कि अब वह कहाँ स्थित है? वह दर्शन ज्ञानमें स्थित है। तो इस प्रकार पुण्यपापरूप दोनों योगोंको रोककर दर्शन और ज्ञानमें स्थित होता हुआ अन्य पदार्थोंकी इच्छासे विरक्त होकर जो पूर्व रोगोंसे मुक्त हुआ अपने आत्माका ध्यान करता है वह जीव उस शुद्ध आनन्दमात्र अपने परिणमनको प्राप्त करता है।

आन्तरिक आनन्दका बल—इस स्वाधीन आनन्दके अनुभवमें ही वह सामर्थ्य है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंका क्षय कर सकता है। आनन्द तो सभी लोग चाहते हैं, पर आनन्द के उपायमें जरा हिम्मत करके चलना चाहिए। आनन्दका उपाय है निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि रखना। अन्य सब धोखा है, मायाजाल है। किससे स्नेह करते हो? गृहमें जो ४-६ सदस्य आए हैं उनमें भी लगिए यह गृहस्थ धर्म है, सद्व्यवहार करो, रक्षा करो, किन्तु अन्तरमें यह संस्कार बसाना कि ये लोग मेरे हैं, ये मेरे सर्वस्व है यह तो मिथ्या परिणाम है और जहाँ ऐसा मिथ्यात्व अध्यवसान हो जाता है वहाँ निराकुलताका दर्शन नहीं होता। वह जीव अन्तरमें आकुलित ही बना रहता है। क्या होगा अब, कैसे इनकी रक्षा हो, कैसे इनका खर्च चले, कैसे यह सब गाड़ी खिंचे? अरे यह सब कर्माधीन हैं। तुम तो अन्तरमें ज्ञान सुधारस चखो।

निर्णयानुसारिणी चेष्टा—ज्ञानी पुरुष तो कायदे-कानून के अनुसार अपना काम करते हैं, अतः ज्ञानीके चित्तमें कोई दुःख नहीं होता। क्या कायदा कानून है गृहस्थोंका? धर्म, अर्थ, काम तीन पुरुषार्थ हैं। धर्ममें पुण्य करना, सुबह उठना, पूजा, भक्ति करना है, अर्थमें धन कमानेके समय अपनी दुकान, ऑफिस आदिका कार्य करना, फल क्या मिले? उस फल में अपना अधिकार न जमावो। जो भवितव्यमें है, जो कर्मोदयसे प्राप्त होता हो होने दो। कर्तव्य यह है कि जो प्राप्त हुआ है उसमें ही अपना विभाग बना लो। सोचते हैं लोग व्यर्थमें कि मेरा गुजारा इतनेमें नहीं होता। अरे कदाचित् इससे आधा या चौथाई ही होता तो क्या उतनेमें गुजारा न होता? अवश्य होता। अन्य लोगोंको देख लो गुजारा चलता है कि नहीं चलता है। कामका मतलब पालन, सेवा, भोग उपभोग है। मोही पर्यायबुद्धि भी छोड़ना नहीं चाहते, विषय कषाय भोगनेकी प्रसक्ति भी दूर नहीं करना चाहते और चाहते हैं कि शांति प्राप्त हो, सो नहीं हो सकता है। कर्तव्य यह है गृहस्थका कि त्रिवर्गका सामान सेवन करें।

गृहस्थका लक्ष्य—गृहस्थोंका मुख्य ध्येय धर्म धारण करना है, जिन खटपटोंमें उनका समय अधिक लगता है उनका ध्यान नहीं है। हालांकि गृहस्थ धर्म ऐसा है कि अधिक समय बाहरी कामोंमें

उपार्जनमें जाता है पर लक्ष्य उसका उपार्जन है ही नहीं। उसका लक्ष्य तो केवल एक है कि कब कैवल्य अवस्था हो? मैं केवल रह जाऊँ, सहज ज्ञानस्वभावमात्र ही अनुभूऊँ। ऐसा ज्ञानस्वरूप हमारी दृष्टिमें बसा रहे। ऐसी दृष्टि बिना यह धर्मका अधिकारी नहीं हो पाता है। धर्म वहीं क्रियाकाण्डोंसे नहीं मिलता है। क्रियाकाण्ड तो धर्म करनेका वातावरण बनाया करते हैं। धर्म तो आत्मस्वभाव जो ज्ञानमात्र है उसका अनुभवन है। पूजा करते हुए हमें यह अवसर आ सकता है, क्योंकि प्रभुके गुणोंपर हमारी दृष्टि जा रही है ना। और कैसा ही स्वरूप मेरा है तो ऐसा अवसर आता है कि हम अपने स्वरूप का अनुभव कर सकें। गुरुसत्संग, शास्त्र स्वाध्याय तो ऐसे वातावरण हैं कि जो विषय कषायोंसे दूर रख कर मुझे एक ज्ञानस्वरूपका स्पर्श करा सकेंगे। इसलिए ये सब बाह्य क्रियाकलाप हमारे धर्मधारण करनेके प्रयोजक हैं, पर ये क्रियाकलाप स्वयमेव धर्म नहीं हैं। धर्म तो आत्माका शुद्ध परिणाम है। भैया! आत्मस्वभावरूप इस धर्मभावमें स्थित होना यह गृहस्थका लक्ष्य होता है। यद्यपि गृहस्थ रहता है निम्न पदमें पर देखता है उच्च पदको, यह है गृहस्थका उन्नतिकारक साधन।

संवरूपयोगी कार्यत्रितय—ज्ञानी पुरुष संवरतत्त्वके लिए पुण्यपाप रूप दोनों योगों को रोकता है और शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें स्थिर रहता है। और अन्य द्रव्योंकी इच्छासे विरक्त होता है। भैया! तीन चीजें यहाँ कही गई हैं, सर्वप्रथम पुण्य-पाप योगों से उपेक्षा करना, द्वितीय बात अपने दर्शन ज्ञानस्वरूपमें स्थित होना और तीसरी बात समस्त इच्छा विकल्पों को दूर करना। ये सब बातें हैं, जैसे तीनों बातें एक हैं एक ही आत्मामें, यों तीनों बातें स्वयं आ जाती हैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र आत्मत्वकी दृष्टिसे। इस प्रकार यह जीव शुभ अशुभ योगोंसे दूर हुआ इससे दर्शन ज्ञानमें स्थित होता है। इससे रागद्वेष मोह संतान रुकते हैं, नवीन कर्मोंका आस्रव रुकता है, अपना ही पथ विशद होता है।

दृष्टिका प्रताप—जो जीव शुभ अशुभ योगमें प्रवर्तमान अपने आत्माको दृढ़तर भेदविज्ञानके द्वारा आत्मामें ही ठहराता है और शुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक निज आत्मद्रव्यमें ही प्रतिष्ठित करता है तथा परद्रव्योंकी इच्छाको त्यागकर समस्त परिग्रहोंसे विमुक्त होता है, सो अत्यन्त निष्प्रकम्प होता हुआ रंच भी कर्म और नोकर्मको न छूकर आत्माका ध्यान करता हुआ एक निज एकत्वस्वरूपको चेतता है, वह शीघ्र ही सकलकर्मविमुक्त होता हुआ आत्माको प्राप्त कर लेता है। किसी चीजको पानेका उपाय केवल दृष्टि है। आत्माके हाथ पैर नहीं, किसी पदार्थको छू सकता नहीं, यह तो केवलज्ञान दर्शनात्मक है और ज्ञानदर्शनकी परिणति करता है। वह दृष्टिसे ही छूता है, तो जिसकी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप पर है उसने शुद्ध आत्माको पाया। अशुद्ध आत्माके पानेमें ये शुभ अशुभ योग आया करते हैं जो कि रागद्वेषमोहमूलक हैं। किसी पदार्थ सम्बन्धी रागद्वेष या मोह हो गया तो शुभ या अशुभ योग ही तो हुआ करता है। ऐसे शुभ अशुभ योगमें वर्तमान आत्माको अथवा योगोंसे हटकर अपने आत्माको रोकना यह ही सम्बरका उपाय है।

विजयका कारण उपेक्षा—एक कहावतमें कहते हैं कि “बड़ी मार करतारकी दिलसे दिया उतार।” घरमें १० आदमी रहते हैं। उनमें एक भाई प्रमुख है जो सबकी व्यवस्था करता है, वह अकृपा करे तो सब लोगोंकी उपेक्षा कर देता है। जिसकी उपेक्षाकी जाती है वह यह सोचता है कि इससे तो भला यह था कि मार लेता, पीट लेता, गाली दे देता पर यह उपेक्षा की जाना असह्य है। बरबादीका प्रबल कारण उपेक्षा है। रागद्वेष या कर्मादिक इनका विनाश उपेक्षासे होता है। इनकी उपेक्षा कर दें, ये अपने आप मिट जायेंगे। उपेक्षा कब होगी जब परम आनन्दमय अत्यन्त विविक्त चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वरूप दृष्टिमें हो। जिस बच्चेको खेलनेकी आदत है उसको खिलौना दे दो तो वह अपने खिलौने को खेलता रहेगा। आप उसे खिलौना न दोगे तो दूसरेके खिलौनेपर ललचायेगा, रोवेगा। मुझे तो खिलौना चाहिए। इसी प्रकार इस जीवको रमण करनेकी आदत है, चारित्रगुण है इसमें, तो कहीं न कहीं रमेगा। यदि परम आनन्दमय निज स्वरूप इसके उपयोगमें रहे तो वह अपने उपयोगमें खेलेगा और अपने आपके शुद्ध स्वरूपका पता न होगा तो बाहरी पदार्थोंमें खेलेगा। इन्हीं बाहरी पदार्थोंको कहते हैं विषय, विषयोंमें लगेगा। तो यहाँ यह ज्ञानी जीव चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको उपयोगमें लेता है। तो ऐसा शुद्ध, परसे विविक्त ज्ञानदर्शनात्मक आत्मद्रव्यको प्राप्त करता हुआ समस्त परद्रव्यमयताको अतिकान्त करके अपनेको किसी भी अन्य भावमय न मान करके सकल कर्मोंसे रहित रागद्वेष विकारोंसे रहित, ज्ञप्ति परिवर्तन क्रियासे रहित आत्माको प्राप्त कर लेता है, यही कर्मोंके सम्बरका उपाय है।

इस प्रकरणमें पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलसमें कहते हैं:

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति निपतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।

अचलितमखिन्याद्द्रव्यदूरे स्थितानां भवति स च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥

अक्षय कर्ममोक्षके अधिकारी—जो अपनी महिमामें रत है, अपने सहज ज्ञानज्योतिर्मय स्वरूपका परिचय होनेसे अगाध, गम्भीर, शुद्ध प्रकाशमें रत है, इस जीवके भेदविज्ञानके बलके द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नियमसे होती है। और इस ही कारण समस्त अन्य द्रव्योंसे दूर अचलित स्थित भव्योंके अक्षय कर्मोंका मोक्ष होता है। और ऐसा मोक्ष होता है कि उस मोक्षका फिर कभी क्षय नहीं होता है। स्कूलमें पढ़ने वाले बच्चोंको छुट्टी प्यारी होती है। छुट्टी तो हो गई चार बजे, मगर उस छुट्टीका क्षय हो जायगा, यह उनको दुःख है। फिर दूसरा दिन आयगा १० बजे, फिर स्कूल जाना पड़ेगा। तो बच्चोंकी छुट्टीका तो क्षय है, किन्तु सिद्धभगवानको जो छुट्टी मिल गई उसका क्षय नहीं है। उन्हें छुट्टी मिली है तो अनन्तकालके लिए मिली है। वे छूट गए।

भैया! सिद्ध देवोंके भी हमारी जैसी संसारावस्था थी, तब झगड़े रहते थे, परेशानी रहती थी उन भावोंकी आत्मीयताकी कल्पनामें। परेशानी करने वाला कोई दूसरा नहीं था। कोई दूसरा द्रव्य तो आत्माको छूता भी नहीं है और जिन परद्रव्योंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, एक क्षेत्रावगाह है

वे द्रव्य अब भी स्वयं नहीं छू रहे, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिस जीवने रागादिक विकार परिणाम किया उस जीवके एक क्षेत्रमें अनन्त कार्माण वर्गणाएं बद्ध और स्पृष्ट रहती है और नवीन भी बँध जाती हैं। बँध रही इस हालतमें भी, आत्माके स्वरूपको छुवा नहीं है, निमित्तनैमित्तिक बँधन जरूरी है। जब उन्हें छुट्टी नहीं मिली थी सिद्ध भगवंतोंको तब क्या हालत थी? पीड़ित थे, परेशान थे, विकारोंको अपनाते थे। जन्म किया, मरण किया, किस-किस गतिमें भ्रमण किया करते थे, कैसे-कैसे कष्ट सहे। उन सब कष्टोंसे सिद्ध भगवंतोंको छुट्टी मिल गई। उनके अक्षय कर्म मोक्ष हुआ है। तो जो अपनी महिमामें रत हैं ऐसे पुरुषोंको शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है।

सामान्य उपयोगकी महिमा—सामान्य व्यापक चीज है, विशेष व्याप्य चीज है, अपने आपके सहज ज्ञानस्वभावका जब उपयोग होता है तो यह भरा और असीम हो जाता है, और यहाँ अपनी महिमासे च्युत हुआ ओर किन्हीं बाहरी पदार्थोंमें उपयोग दिया तो यही संकुचित हो जाता है। जैसे फूल खिल जाय और रात्रि आये तो वह मुंद जाय। दिन आये तो फिर खिल जाय। इसी प्रकार यह उपयोग अथवा आत्मा जब शुद्ध सामान्यतत्त्वका उपयोग करता है उस कालमें यह खिल जाता है, व्यापक हो जाता है, अत्यन्त आनन्दमय हो जाता है। और जब अंधेरा छाता है विशेषोपयुक्त हो जाता है, उस शुद्ध सहजस्वरूपके अवलम्बनसे चिगता है, बाहरी पदार्थोंमें स्थित होता है तो यह बुझ जाता है, संकुचित हो जाता है। इस संकुचितपनेकी हालतमें यह जीव दुःखी रहता है, और खिले हुएकी हालतमें असीम व्यापक सामान्यरूप होनेकी हालतमें यह आनन्दमय रहता है। इस प्रकार सम्वरके प्रकरणमें यहाँ ज्ञानी संतोंकी महिमा गाई जा रही है कि वे अपनी महिमामें रहते हैं, इस कारण उन्हें शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होती है और समस्त परद्रव्योंसे दूर स्थित होनेके कारण कर्मों का अविनाशी मोक्ष होता है। अब प्रश्न किया जा रहा है कि यह सम्वर किस क्रमसे होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं:

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसींहि ।
 मिच्छत्तं अण्णाणं अविरणभावो य जोगो यं ॥ १९० ॥
 हेउअभाववे णियमा जायदि णणिस्स आसवणिरोहो ।
 आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्सवि णिरोहो ॥ १९१ ॥
 कम्मस्साभावेण य णोकम्माणंपि जायइ णिरोहो ।
 कम्मस्साभावेण य संसारणिरोहणं होइ ॥ १९२ ॥

संसारनिरोधका क्रम—किस क्रमसे संसारनिरोध होता है उस क्रमका यहाँ वर्णन चल रहा है। रागद्वेष मोहरूपी आस्रवोंके कारण सर्वज्ञदेवने मिथ्यात्व अज्ञान अविरति भाव और योग इनद चारों अध्यवसानोंको कहा है। अज्ञानके इस आस्रवका अभाव होनेसे निमयसे आस्रवका क्षय होता है।

करुणानुयोगकी दृष्टिसे तो मिथ्यात्व जहाँ है वहाँ मिथ्यात्वजनित आस्रव नहीं है। जहाँ अविरति नहीं है वहाँ अविरतिजनित आस्रव नहीं है। इसी प्रकार कषायादिकसे भी अलग होनेसे कषायजनित कर्मोंका भी निरोध होता है। तथा योगका अभाव होनेपर सर्वथा आस्रवका अभाव होता है। कर्मोंके निरोधसे नोकर्मका निरोध होता है और नोकर्मका निरोध होनेसे संसारका निरोध होता है और संसारके ही निरोधका नाम मोक्ष है। जगहका नाम संसार नहीं है, किन्तु मलिन परिणामोंका नाम संसार है। और निर्दोष परिणामोंका नाम मोक्ष है। द्वेष सहितपनेको संसार कहते हैं और द्वेष रहितपने को मोक्ष कहते हैं।

परिणामशुद्धिका फल निराकुलता—भैया! वीतरागतासे पहिले ज्ञानी जीवके राग द्वेष भी कुछ पदवियों तक चलता है, किन्तु राग द्वेषमें वे बसते नहीं हैं। उदय है, होते हैं विभाव, पर उन उदयोंमें, उनके उपयोगोंमें ज्ञानी जीव फंसते नहीं हैं। जैसे पानीमें नाव रहे तो नावका बिगाड़ नहीं होता पर नावमें पानी आ जाय तो नावका बिगाड़ है। इसी प्रकार संसारमें ज्ञानी आत्मा बसत है पर ज्ञानीमें संसार बस जाय तो ज्ञानभाव छूटकर अज्ञानभाव आ जाता है। जगतका नाम संसार नहीं है, मुक्त जीव भी लोकके अन्दर ही हैं, कहीं अलोकमें नहीं पहुँच जाते हैं, लोकमें रहकर भी अनन्त आनन्दमय हैं।

मलीमसपरिणामका फल क्लेश—जिस जगह मुक्त जीव हैं उस ही स्थानमें अनन्त निगोदिया जीव भी हैं। उस ही एकक्षेत्रमें हैं जिस क्षेत्रमें मुक्त जीव है। पर निगोदिया जीव वहाँ उतने दुःखी हैं जितने दुःखी यहाँके निगोदिया हैं। वहाँ ऐसी रंच भी सुविधा नहीं है कि चलो वे सिद्धलोकके वासी निगोदिया हैं तो इनका स्वासमें १८ बार जन्ममरण होता है तो कमसे कम उनका जन्ममरण आधा कर दें, स्वांशमें ६ बार ही जन्ममरण करें, सो नहीं है। वैसा ही क्लेश, वैसी ही मलिनता उनमें है जैसे कि यहाँके निगोदिया जीवोंमें है। इस लोकमें ही समस्त द्रव्य रहते हैं, उन द्रव्योंके रहनेसे कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। रह रहे हैं। परमार्थसे समस्त द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें रह रहे हैं, पर खुदके स्वरूपका जैसा परिणाम है वैसा ही उनको फल मिलता रहता है।

स्वरक्षाका उपाय—भैया! इन संसारके जीवोंका रक्षक कोई दूसरा नहीं है। आँख पसारकर देखते हैं, जो दृष्टिगोचर होता है वह सब अपने ही तरह मायामय परिणति वाला है। वे स्वयं अशरण हैं, उनका क्या सहारा सोचते हो। सहारा तो अपने आपके उस अनादि अनन्त अहेतुक स्वभावका लो। इसका ही सहारा लो। जगत चाहे कैसा ही परिणमे, अपने प्रभुका सहारा लेने वाला कर्मोंका क्षय करके मुक्तिको प्राप्त करेगा। और अपना सहारा छोड़ दिया, बाहरमें दृष्टि दिया तो बाह्य पदार्थ न तो शरण हैं, उन उनका सदा संयोग है, कुछ कालका समागम है पर अंतमें उनका वियोग नियमसे होगा। जैसे की चींटी भीतपर चढ़ती है फिर गिर जाती है, फिर चढ़ती है फिर गिर जाती है, फिर चढ़ती है। इसी प्रकार यहाँ भी भाव चढ़ता है, फिर गिर जाता है। गिरने दो चढ़ने दो, पर अपनी धुन यही रखो कि हमको तो अपने परिणामोंमें चढ़ना ही है। यह निज शुद्ध ज्ञानमात्र जो

परमानन्दमय स्वरूप है उसकी दृष्टि करना है। उस दृष्टिमें रहें तो हमारी रक्षा है और उस दृष्टिमें न रहें तो न पड़ौसके लोग रक्षक और न कुटुम्बके लोग रक्षक हैं। हमारी रक्षा करनेमें समर्थ कोई दूसरा पुरुष नहीं है।

जिनशासनसे उपलभ्य भाव—जैन शासनकी प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट फल यही है कि ऐसी दृष्टि जगे कि मैं सर्वसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र हूँ। मेरा न कोई दूसरा सुधार कर सकता और न कोई बिगाड़ कर सकता। मुझे कोई सुख या दुःख नहीं दे सकता। यह मैं ही अपने आपके स्वरूपसे चिगकर बाह्य अर्थोंमें विकल्प करता हूँ तो स्वयं बिगड़ता हूँ, स्वयं ही दुःखी होता हूँ। सर्व पदार्थ स्वयं सत् हैं। किसी भी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ परिणमन नहीं कराता। ऐसा आत्मस्वरूप समझकर अपने आपमें रमनेका यत्न करना चाहिए। यदि अपने खिलौनेमें न रम सके तो बाहरी दूसरे पदार्थरूपी खिलौनोंमें बुद्धि फंस जायगी और दूसरेका खिलौना तो दूसरेका ही है। उसपर तो इस बालक जीवका कुछ अधिकार नहीं है। तो वे खिलौन सदा साथ रहते नहीं, मनके माफिक परिणमते नहीं तो निरन्तर आकुलताएँ बनी रहती हैं।

वास्तविक जीवन—भैया! कोई क्षण ऐसा हो जब ज्ञानमात्र आत्मस्वभावका अनुभव हो, वही वास्तविक नया दिन है, नया क्षण है वही। जीवनका प्रारम्भ वहाँसे है जहाँसे पासा एकदम पलट जाय, यह बड़े साहसकी बात है। आजका समय कई बातोंमें कुछ क्षीण है। शरीर बलसे, मनोबलसे सत्संगबलसे सब ओरसे हासका परिणाम होता जा रहा है। ऐसे समयमें भी जो ज्ञानी गृहस्थ संत श्रावक अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि बनाए हुए गृहस्थ धर्मको निभाते हैं वे इस कालके आदर्श मुमुक्षु हैं। जितनी क्षण अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि तो स्वरक्षा है और जितने क्षण अपने स्वभावसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि रहेगी उतने क्षण अरक्षा है।

मोक्षमार्ग व संसारमार्ग—संवर अधिकारके प्रकरणमें ये अंतिम तीन गाथाएँ हैं। यहाँ संवरका क्रम बतलाया जा रहा है। संवरका विरोधी है आस्रव। उस आस्रवका मूल है अध्यवसान अर्थात् मिथ्यात्व अविरति अज्ञान और योग। इन चार चीजोंमें तीन चीजें तो नहीं हैं जो मोक्ष मार्गके विपरीत है और योगभी किसी अंशमें चारित्रका विघात है। सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। मोक्षतो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकताको कहा है। तो मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः। संसार, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रको कहा है। इसीका नाम है मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। ये तीनों भावात्मक चीजें हैं और योग प्रदेशात्मक चीज हैं। आस्रवका कारण अध्यवसाय है और साथ ही योग है। इन चार अध्यवसायोंका मूल है आत्मा और कर्मके एकत्वका निश्चय। आत्मा है ज्ञायक स्वभावमात्र और इसका कर्म है रागादिक विकार भाव। इन रागादिक कर्मोंमें और इस ज्ञायक स्वभावमें भेद न करके एकत्वका परिचय रहना सो ही कर्मोंका आस्रवका मूल है, किन्तु जैसे हंस अपनी चोंचके स्पर्शसे दूध और पानीको अलक कर देता है, पानीको छोड़कर केवल दूध

ग्रहण कर लेता है इसी प्रकार ज्ञानी भव्य हंस स्वभाव और विकारमें इस मिले हुए तत्त्वमें उपयोग और विकारको अलग-अलग कर लेता है। जो ध्रुव है, अनादि अनन्त अहेतुक है, निश्चय प्राणरूप है, ऐसा ज्ञानस्वभावी तो मैं हूँ। और उपाधिका निमित्त पाकर जो विकारभाव होते हैं वे विकारभाव मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं।

ज्ञानी जीवसे विपरीत अज्ञानीकी स्थिति—भैया! स्वभाव व विभावमें भेदविज्ञान करके विकारोंको छोड़कर स्वभावका जो ग्रहण करता है और स्वभावको पी लेता है; अर्थात् स्वभाव दृष्टि करके एक समरसरूप अनुभव करता है वह विवेकी पुरुष है, ज्ञानी संत निकट भव्य है किन्तु इससे उल्टा जो अभव्य है, जिसका होनहार उत्तम नहीं है वह हाथीकी तरह सुन्दर और असुन्दर भोजनको मिलाकर एक साथ खा लेता है। हाथीके सामने मिठाई भी डाल दी जाय और घास भी डाल दी जाय तो उसकी ऐसी वृत्ति है कि वह घासमें मिलाकर चबा लेता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव उसके समक्ष दो तत्त्व मौजूद हैं एक ज्ञानरूप तत्त्व और दूसरा अज्ञानरूप तत्त्व। तो वह अज्ञानी जीव श्रेय और ज्ञानको मिलाकर एक रसरूप अनुभव करता है। वह ज्ञान तो स्वयंमें ही है ना, पर उस ज्ञानमें एक ऐसी कल्पना आ गई कि अपने स्वरूपको तो भूल गया और ज्ञेयको याने परस्वरूपको सर्वस्व मानने लगा, तो ऐसी कल्पनामें इसने ज्ञान और ज्ञेयको मिलाकर एकरसरूप अनुभव किया, इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयका मिश्रित स्वाद यह अज्ञानी जीव लेता है। ऐसी तो अज्ञानी जीवकी स्थिति है और ज्ञानी जीवकी स्थिति यह है कि वह स्पष्ट एकदम ज्ञानस्वभावको परखता है, जानता है और उसमें रमनेका यत्न करता है।

सांसारिक सृष्टिका हेतु—आस्रव भाव हैं मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान और योग। उसका कारण है आत्मा और कर्मोंके एकत्वका निश्चय करना। ये आस्रव भाव नवीन कर्मों के आनेके हेतु हैं और ये कर्म नवीन शरीर पानेके हेतु हैं और ये नवीन कर्म संसारके हेतु हैं। तब यह निश्चय करो कि नित्य ही यह आत्मा, आत्मा और कर्मोंमें एकत्वका भ्रम करके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगमय अपने आत्मका निश्चय करता है। जैसे अब सब भाई अपने आपमें ऐसा निश्चय किए बैठे हैं कि मैं अमुक लाल हूँ, मैं अमुक चंद हूँ, अमुक स्थितिका हूँ, ऐसे घरवाला हूँ, ऐसा निश्चय भी एक स्वभावके विपरीत निश्चय है। पर ऐसा होते हुए भी चूँकि व्यवहारमें कुछ न कुछ नाम तो रखना ही पड़ता है और कुछ न कुछ परिणमनमें रहना ही पड़ता है, सो रहते हुए भी अपने आपमें जो यह निश्चय बनाए रहता है कि यह मैं सामान्य जीव एक ऐसा शुद्ध आत्मा हूँ जिसका कि कुछ नाम नहीं। यह तो केवल अपने स्वभावमें अंतः चकचकायमान चैतन्य चमत्काररूप है। ऐसा अपने आपका विश्वास रखे तो वे क्रियाकलाप सब खतम हो जाते हैं। जो अपनेको नाम वाला, परिवार वाला, समागम वाला अनुभव करता है ऐसा निश्चय करने वाला रागद्वेष मोहरूपी आस्रव भावको भाता है। उस आस्रवभावसे कर्मोंका बंध होता है। उन कर्मोंसे फिर नोकर्म होते हैं। उन नोकर्मोंसे फिर संसार उत्पन्न होता है, और इस संसारके होनेसे ही दुःख है।

यथार्थ दर्शनके लिये प्रेरणा—हम रहते कहाँ हैं? कहीं रहे पर हमारी दृष्टिमें सर्वोच्च तत्त्व रहना चाहिए। यह सर्वोच्च तत्त्व क्या है? व्यवहारसे तो परमात्मस्वरूप है और परमार्थसे आत्मस्वरूप है। ये दो ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। जहाँ तक हो आत्मस्वरूपमें स्थित रहें। न हो सके तो उस आत्मतत्त्वकी दृष्टि करनेके लिए हम परमात्मस्वरूपका ध्यान करते रहें। इन दोके अतिरिक्त और तो कोई शुद्ध तत्त्व नहीं है इसी कारण व्यवहार में शरण है तो अरहंतदेव सिद्ध भगवान शरण हैं। परमार्थसे शरण है तो हमारा भगवान शरण है। यों दृष्टि उस शुद्ध सर्वोच्च तत्त्वपर रहनी चाहिए। ऐसा ख्याल छोड़ दो, संस्कार और विश्वास छोड़ दो कि मैं अमुक नामधारी हूँ, मैं अमुक जातिका हूँ, मैं अमुक पोजीशन का हूँ, मैं अमुक संग वाला हूँ, इस विपरीताशयको छोड़ दो, ऐसा ख्याल करो कि यह मैं केवल अपने आपमें अपने स्वरूप हूँ, और ऐसा ही हम संस्कार बनाएँ कि मैं शरीरसे बिल्कुल पृथक् केवल चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व हूँ। ऐसी दृष्टि होने पर हम अपनेको शुद्ध पायेंगे, और शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेसे यह सम्बरतत्त्व प्रकट होगा। यह सम्बरतत्त्व हमारा परम सुखदायी है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने आपको बस भावनासे वासित बनाए रहें कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, अन्य अधिकरूप मैं नहीं हूँ, मैं अन्य विकाररूप नहीं हूँ इस भावनासे सम्बरतत्त्व प्राप्त होता है।

संसारनिरोधका हेतु और संवरका क्रम—संसारका निरोध कैसे होता है? संसारके हेतु क्या हैं उनका निरोध करें तो संसारका निरोध हो सकता है। संसारका हेतु है शरीर, शरीरका हेतु है कर्म, कर्मोका निरोध हो तो नोकर्मका निरोध हो सकता है और कर्मोका हेतु है आस्रव भाव याने के रागद्वेष मोह और रागद्वेष मोहका साधन है आत्मा और कर्मोके एकत्वका अभ्यास। आत्मा जो कुछ करता है उस क्रियामें और अपने स्वरूपमें आस्रवसे होते हैं कर्म, कर्मोसे नोकर्म और नोकर्मसे संसार होता है। जहाँ इस जीवने अपनी ओर अपनी क्रिया की, भेदविज्ञान किया अर्थात् मैं शाश्वत ज्ञानस्वभावी हूँ और परिणतियाँ मेरे स्वभावसे अत्यन्त भिन्न हैं ऐसा भेदविज्ञान जब किया और शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्माको प्राप्त किया तो मिथ्यात्व, अज्ञान अविरति योगरूपी अध्यवसानोका अभाव हो जाता है। जब रागादिकका अभाव होगा, जब मिथ्यात्व आदिकका भी अभाव होगा और जब रागादिकका अभाव हुआ तो कर्मोका भी अभाव हो जाता है। कर्मोका अभाव हो जाने पर नोकर्मोका भी अभाव होता है और नोकर्मोका अभाव होनेपर संसारका भी अभाव होता है ऐसा यह संवरका क्रम है।

अनवरत भेदविज्ञान करनेकी प्रेरणा—भैया! शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होनेसे साक्षात् सम्बरतत्त्व उपलब्ध होता है और वह उपलब्धि भेदविज्ञान से होती है। इस कारण भेदविज्ञानकी ही निरंतर भावना करनी चाहिए। यह भेदविज्ञान तब तक बनाय रहना चाहिए जब तक परसे च्युत होकर यह ज्ञानस्वरूपी अपने आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित न हो जाय। शरीर को छोड़कर आत्माके सहजस्वरूप चैतन्यभावका अध्ययन करना चाहिए। जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही हुए हैं और

जितने भी अभी तक बंधे हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावसे बंधे हुए हैं। यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षासे रागादिक विकल्परहित स्वसम्वेदनरूप भाव श्रुतज्ञान शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे परोक्ष कहा जाता है याने ज्ञानके ५ भेद हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इन पांचोंमें से आत्मानुभवरूप भावज्ञानको किसमें गर्भित करोगे? मति श्रुतके सिवाय कोई तीसरा ज्ञान तो अपने नहीं है। या तो मतिरूप कहो या श्रुतरूप कहो। मतिज्ञान कहो तो परोक्ष हुआ, श्रुतज्ञान कहो तो सविकल्प हुआ। सो यह यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष कहा जाता है तो भी इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञानकी अपेक्षासे वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस कारणसे आत्मा स्वसम्वेदन ज्ञानकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष होता है और केवलज्ञानकी अपेक्षा से वह परोक्ष कहलाता है। पर उस स्वसम्वेदन ज्ञानको केवल परोक्ष नहीं कहना चाहिए।

स्वानुभवकी अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता भैया! क्या चतुर्थकालमें भी केवलज्ञानी इस ज्ञानको हाथमें रखकर दिखा पाते थे? वे भी दिव्यध्वनिसे बोलकर चले जाया करते थे। वहाँ भी उनके उपदेशके श्रवणसे श्रोताजनोंको जो बोध होता था वह सब परोक्ष ही था, किन्तु स्वानुभवके कालमें वह एकज्ञानस्वरूपका अनुभव प्रत्यक्ष था। आत्माके सम्बन्धमें जितनी भी विवेचना सुनी जाय और जो कुछ भी विकल्प किया जा रहा हो वह सब परोक्ष है, किन्तु समाधि कालमें ज्ञानानुभवके समयमें वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। सो वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष इस कालमें भी हो सकता है। इस कारण परोक्ष आत्माका कैसा ध्यान किया जाता है? ऐसा प्रश्न होनेपर इस गाथावोंको कहा गया है। सीधी बात यह है कि आत्मानुभव की कोई ऐसी सरल तरकीब पायें कि अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर लें। सबसे विविक्त केवलज्ञान ज्योतिमात्र मैं हूँ ऐसा अपने आपको अनुभवं तो आत्मानुभव हो जाता है। स्वसम्वेदनका उपाय ज्ञानगुण ही है। अनुभव तो यह आत्माका कुछ न कुछ कर ही रहा है, अपनेको परिवारवाला माने, किसी जातिकालवाला माने, किसी गोष्ठी वाला माने, पर अपनेको कुछ न कुछ यह मानता जरूर है। बजाय उन सब कल्पनावोंके केवलज्ञान मात्र अपनेको माने तो यह भाव स्वानुभवजनक होगा। अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवना यही स्वानुभवका उपाय है स्वानुभव ज्ञप्तिमें अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

स्वानुभवका उपाय यह ज्ञान, ज्ञानमें ही निश्चल प्राप्त हो, एतदर्थ पहिले तो भेदविज्ञानके उदय होनेका अभ्यास हो, ज्ञानमार्गमें आगे बढ़ें। उसमें सबसे पहिले करने योग्य काम है सो भेदविज्ञानका है। सर्वद्रव्य भेदविज्ञानके द्वारा प्रसिद्ध होते हैं। इस भेदविज्ञानसे भिन्न-भिन्न द्रव्योंको भिन्न-भिन्न समझा जाता है। मैं आत्माजुदा हूँ और शेष पुद्गलादिक जुदा हैं। पहिले तो भेदविज्ञानसे यह जाना जाता है, फिर भेदविज्ञानसे शरीर और आत्मा जुदा है, फिर यह जाना जाता है कि शरीर जड़ है, मैं आत्मा चेतन हूँ। फिर तीसरी बारमें आगम और युक्तिसे सिद्ध हुए कर्मोंमें और अपने आपके आत्मामें भेद किया जाता है कि वे कर्म जुदा हैं और मैं आत्मा जुदा हूँ। चौथी बारमें उन कर्मोंके उदयकी अवस्थाको पाकर जो आत्मामें रागादिक विभाव होते हैं उन रागादिक

विभावोंमें और अपने आत्मामें भेदविज्ञान किया जाता है। ये रागादिक विभाव जुदा हैं और यह मैं ज्ञायकस्वरूपी आत्मा जुदा हूँ। ऐसा फिर भेदविज्ञान किया जाता है। उन कर्मोंके अनेक अवस्थावोंका निमित्त पाकर जो वितर्क उत्पन्न होते हैं, युक्ति विचार उत्पन्न होते हैं उन विचारोंसे भी यह मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा जुदा हूँ, इसका भेदविज्ञान किया जाता है, फिर आगे और बढ़कर ऐसा भेदविज्ञान किया जाता है कि शुद्ध ज्ञानकी किरणें भी जा रही हैं। जो ज्ञानकी शुद्ध परिणति होती है उस परिणतिसे भी भिन्न ज्ञानस्वभावमात्र मैं आत्मा हूँ, ऐसा वस्तुज्ञान किया जाता है। यावन्मात्र परिणति है, उन सब परिणतियोंरूप अपनेको न तक कर अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव मात्र अपने आपको निरखकर अपने आपकी ओर उन्मुख हो, यह है स्वानुभव का उपाय।

भेदविज्ञान द्वारा साध्य लक्ष्य—स्वानुभवके उपायमें प्रथम तो भेदविज्ञानका उदय हुआ, फिर भेदविज्ञानके अभ्याससे शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति हुई, उस शुद्ध तत्त्वकी प्राप्तिसे रागादिकके समूहको पृथक् करके आस्रव रुका, आस्रवके रुकनेसे कर्मोंका सम्बर हुआ। कर्मोंका सम्बर होनेसे आत्माने परमशांतिको धारण किया, जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह ज्ञानका उदय भेदविज्ञानके प्रतापसे होता है। कुछ क्षयोपशमके दोषसे ज्ञानमें जो मलिनता थी अब वह नहीं रही। अब यह दोषरहित है। अब दोषोंके न होनेसे निर्मलता है। इस ज्ञानस्वभावको तका जा रहा है। यह एक है, अपरिणामी है, स्वतःसिद्ध है, मेरा निश्चय प्राण है, जो कभी जुदा नहीं किया जा सकता, इस रूप ही मैं सदा बर्तता हूँ। इससे आगे और मैं कुछ नहीं करता हूँ, ऐसा स्वरूप मात्र अपनेको तकना बस यही भेदविज्ञान द्वारा साध्य फल है।

भेदविज्ञानसाध्य आत्मसंतोषकी श्रेयस्करता—भैया! भेदविज्ञान द्वारा साध्य आत्मसंतोषके कारण ही कर्मोंका क्षय हुआ करता है। कर्मोंका विनाश क्लेशोंसे नहीं हुआ करता है। कर्मोंका विनाश ऋद्धि-सिद्धिसे हुआ करता है। उसका जो चैतन्यस्वभाव है उसकी प्रसिद्धि ही ऋद्धि-सिद्धि है। वही उसका लक्ष्य है, वही उसकी लक्ष्मी है। चाहे चैतन्य कहो, चाहे लक्ष्य कहो, चाहे लक्ष्मी कहो एक ही बात है। यही मेरा ज्ञानस्वरूप है, इसको छोड़ेकर यह न रहा, न रहेगा। ऐसे परमपिता, शरणभूत अपने आपके स्वभावको न लखकर अब तक यह प्राणी संसारमें भ्रमण कर रहा है। जिस किसीको अपना मान लिया उसे इष्ट मान लेता है और जिसको पराया मान लिया उसे अनष्ट मान लेता है। यही रागद्वेष मोह भाव है। इसका मूल अज्ञानभाव है। उस अज्ञानका उच्छेद भेदविज्ञानके द्वारा होता है। सो भेदविज्ञान कर जिन महापुरुषोंने इस अज्ञानका उच्छेद किया, यथार्थस्वरूप अपने उपयोगमें लिया, वे किसी भी परिस्थितिमें रहें अपने अन्तरमें अनाकुलताका ही स्वाद लिया करते हैं। यों ज्ञानका प्रबल उदय हुआ और यह ज्ञान सम्बरके भेदविज्ञानसे इस उपयोगभूमिमें आया जाता है। यह उपयोग दर्शक है और अब उपयोगभूमिके सम्बरके रूपमें आकर यह भेष निकालता है और यों सवराधिकार यहाँ पूर्ण होता है।

निर्जराधिकार

अब निर्जराका प्रवेश होता है। मोक्षमार्गके पर्यायभूत ७ अथवा ६ तत्त्वोंमें यह एक निर्जरा नामक तत्त्व मोक्षका मार्गभूत है। इस उपयोगमें ज्ञानपात्रका अब निर्जरा तत्त्वके भेषमें प्रवेश होता है।

निर्जराकी संवरपूर्वकता—भैया! निर्जरासे पहिले सम्बर तत्त्व आया था। सम्बर तत्त्व विकार शत्रुवोंके रोकनेका काम करता है। रागादिक आस्रवोंके रुकनेसे अपनी धुराको धारण करता हुआ यह उत्कृष्ट सम्बर तत्त्व आया था और वह सम्बर साथ चल रहा है। सम्बरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षका मार्ग है अन्यथा जो बंधे हुए कर्म हैं उनका उदय आने पर तो निर्जरा होती ही रहती है। निर्जरा कहो, उदय कहो एक ही बात है। सूर्य निकलना कहो या उदय होना कहो एक ही बात है। सूर्य निकलता है सूर्य उदित होता है दोनोंका अर्थ एक ही है। पर जो निकलना सम्बरपूर्वक नहीं है उसको तो उदय कहते हैं। और जो निकलना सम्बरपूर्वक है उसको निर्जरा कहते हैं। कर्म उदयमें आए, खिर गए वे नवीन कर्मोंके बंधका कारण नहीं बनते, तो वे खिर ही गए, उसको निर्जरा कहते हैं। तो रागादिक आस्रवोंके निरोधसे अपनी धुराको धारण करके यह उत्कृष्ट सम्बर तत्त्व होता है। अब पहिले बंधे हुए कर्मोंको जलानेके लिए निर्जराका उदय होता है। कोई कर्जा चुकाने जाय और नवीन कर्जा ले आए तो वह कर्जसे मुक्त तो नहीं कहला सकता। दूसरेसेकर्जा लिया, दूसरे का चुकाया, ऐसी स्थितिमें थोड़ा इतना तो सुख हो जाता है कि जिसका पुराना कर्जा है वह सिर नहीं चढ़ता, मगर वस्तुतः कर्जदार तो है ही। कर्जासे उन्मुक्त नहीं होता। इसी प्रकार कर्म उदयमें आते हैं, झड़ जाते हैं पर नवीन कर्म बंध जाते हैं। तब वे तो ज्योंके त्यों रहे किन्तु सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे नवीनकर्म तो रुके हुए हैं और पूर्वबद्ध कर्म खिर जाते हैं। ऐसी स्थितिको मोक्षमार्ग कहते हैं।

निर्जराका अवसर—यह निर्जरा कब प्रकट होती है? जब ज्ञानज्योति संसारप्रसारक आवरणसे रहित हो जाती है। मोहसे यह ज्योति मूर्च्छित नहीं होती है। आत्माका सर्वोत्कृष्ट वैभव है तो ज्ञानज्योतिका मूर्च्छित न होना है। लाखों करोड़ोंकी सम्पत्ति भी प्राप्त न हो जाय, बाह्य अर्थोंमें ही झुकाव बना रहे, अपने ज्ञानस्वभावकी रंच भी स्मृति न हो तो यह समस्त वैभव भी इस जीवका क्या हित करेगा? सर्वोत्कृष्ट वैभव तो निज ज्ञानज्योतिका आलम्बन है। सो जब ज्ञानज्योति प्रकट हो, आवरणसे मुक्त हो तब भी जीव रागादिकसे मूर्च्छित नहीं होता है, इसीका नाम निर्जरा है।

रागादिकसे भिन्न अपने आपको ज्ञानमात्र निहारना अपूर्व पुरुषार्थ—जैसे द्रव्य निर्जरामें यह कहा जायगा कि कर्म झड़ गए, पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें झड़ गईं तो भाव निज्ररामें यह कहा जायगा कि रागादिक झड़ गए अर्थात् रागादिक मूर्छा करने वाले उत्पन्न नहीं हुए। रागादिक भाव हों और उन रागादिकसे पृथक् भावोंका आशय बना रहे तो उसे निर्जरा ही कहते हैं। सबसे बड़ा पुरुषार्थ है ज्ञानी पुरुषोंमें कि वर्तमानमें जो रागादिक भाव हो रहे हैं उससे भिन्न ज्ञानमात्र अपनेको

तकना यह भावात्मक पुरुषार्थ है। यह सबसे किया जासकता है। ऐसा अन्तरमें पुरुषार्थ हो तो उसके फलमें सर्व सिद्धि प्राप्त होती है। पहिले बँधे हुए कर्म क्षणभरमें ही झड़ जाते हैं, नवीनकर्मोंका बँध नहीं होता, कोई संकट और आकुलताएँ उसके अनुभवमें नहीं आतीं, उसके आत्मसिद्धिकी आनन्दकी धारा बहती है। कब किसके? जो पुरुष अपने आपको वर्तमानमें उदित रागादिकसे न्यारा समझता है।

परिकरमें भी ज्ञानदृष्टिकी संभावना भैया! यह बात घर गृहस्थी लोकव्यवहारमें भी हो सकती है कि करते भी जाते हैं और उसमें मन नहीं है, उससे बिलगाव है तो परमार्थसे तो परमार्थमें भी यह बात न हो सकेगी। हो जाते हैं रागादिक और रागादिकसे लगाव नहीं है ऐसी स्थिति हो, यही सबसे बड़ा वैभव है। प्रयत्न यह करना चाहिए। क्या कि वर्तमानमें जो विकार चलते हैं, बँध चलते हैं, वाञ्छा चलती है, प्रवृत्ति चलती है उन सबसे पृथक् ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसी दृष्टि जगे तो गृहस्थीमें घरमें रहकर भी जीव मोक्षमार्गी है। मोक्ष मार्गकी यही तो विशेषता है कि कितने ही संकट आएँ, कितने ही समागम जुटें, कैसी ही परिस्थिति आए प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी ज्ञानदृष्टिको न भुलाना। ज्ञानदृष्टिको भूले तो फिर जगतमें कोई शरण न होगा।

सब जीवोंकी भिन्नता व समानता भैया! यह सब मोहकी नींदका स्वप्न है कि ये शरण हैं। जब तक पुण्यका उदय चल रहा है तब तक लोग तुम्हारे साथी हैं, तुम्हारे पुण्यका उदय न रहे तो वे स्वयमेव ही तुमसे विलग हो जाते हैं। यहाँ लोकमें किसका विश्वास करें? एक शरण मानो तो अपने शुद्ध सम्यक्त्व परिणामका मानो। जगतमें कौन जीव पराया है और कौन अपना है जिसे अपना समझते हो। ये अभी तो कुछ समयसे मिले हुए हैं। इससे पहिले कहाँ थे? तुम्हारे कुछ थे क्या? कहो पूर्वभवके वे शत्रु भी हों और कदाचित् आपके घरमें सम्मिलित हो गए तो आप उन्हें अपना मान रहे हो और बाकी अन्य जीवोंको पराया मान रहे हो। जिन्हें तुम पराया मानते हो कहो पूर्वभवमें वे तुम्हारे हितैषी रहे हों। आज वे तुम्हारे घरमें नहीं पैदा हो सके तो गैर समझते हो। जीवके स्वरूपको तो देखो। सब जीव एक स्वरूप वाले हैं। ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टिके अन्तरमें बनी रहती है।

मात्र जाननहार रहनेका उद्यम भैया! गृहस्थी है, करना पड़ता है, भार लदा है, सम्हालना पड़ता है, पर शुद्ध बात तो सदा बनी रहनी चाहिए। शांति कौन देगा? किसमें ताकत है जो किसी दूसरेमें शांति उत्पन्न कर सके? किसीमें सामर्थ्य नहीं है। खुद ही ज्ञान को उल्टा कर औंधा कर चल रहे हैं, अटपट चल रहे हैं इसलिए दुःखी हैं। अपने ज्ञानको सुल्टा देंते लो अभी सुखी हो जाएँ। अपने आपके आत्माको छोड़कर अन्य किसीको शरण और रक्षक मत मानो। ज्ञाताद्रष्टा रहो, जानते रहो सब, पर किसीसे राग न करो। जिनको कल्पनासे मान रखा है कि ये मेरे हैं उन्हींसे अपना हित समझते हैं, और शेष अन्य जीवोंको मान लिया कि ये तो गैर हैं, ऐसा मान लेनेसे उनसे उपेक्षा करते हैं।

प्रभुदर्शनका संकल्प—कितना यह प्रभु बिगड़ रहा है? इसीमें इसको अपने प्रभुके दर्शन नहीं हो पाते हैं। जहाँ जगतके जीवोंमें ये मेरे हैं, ये पराये हैं ऐसा भाव रहता है वहाँ प्रभुके दर्शन नहीं हो पाते हैं और प्रभु दर्शनके बिना संसारसे पार नहीं हो सकते। इसलिए किसी क्षण तो ऐसा घुलमिल जावोकि सर्व जीवोंमें खुद मिल गए और कुछ अपने आपका पता न रहे। एक जाननस्वरूपमें ही एकमेक हो गए। ऐसी दृष्टि कभी तो जगा लो। अपने जीवनमें किसी भी समय प्रायः ऐसी दृष्टि बनानेके लिए कोई किसी दिन सोचे और हो जाय, ऐसा नहीं हो पाता। उसके लिए प्रतिदिन उद्यम होना चाहिए।

प्रभुदर्शनका उद्यम—किसी भी क्षण तो ऐसा साहस बनाओ कि मैं तो किसी भी परद्रव्यको अपने उपयोग आसनपर न ठहराऊँगा। मैं सबसे न्यारे अपने आपके स्वरूपमें रहूँगा। ऐसी दृढ़ साधनाके साथ क्षणभर ठहर जायें तो वहाँ प्रभुताके दर्शन होते हैं। ऐसे ज्ञानको ही अपना सर्वस्व समझने वाले ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपकी ओर झुकते हैं। सारा जहान प्रतिकूल हो जाय तो मैं अपने स्वरूपके प्रतिकूल न हो जाऊँ और अपने अन्तर्मुख रहूँ।

परपरिणतसे मेरे परिणमनका अभाव—भैया! जगतके सर्व प्राणी मेरे अनुकूल हो जाएँ, मेरा ही सब गुणानुवाद किया करें तो इससे भी मेरा हित नहीं हो सकता। मैं ही बहिर्मुखताको छोड़कर निज अन्तर्मुखताको ग्रहण करूँ तो मेरा सुधार हो सकता है। इस संसारमें मैं अकेला हूँ, ऐसी अपने आपके अन्दर भावना तो की जाय। यदि संसारके इन जीवोंमें ही लगाव रहा तो यह संसारचक्र बढ़ता चला जाता है। ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया है तो इसमें जरा अपना जो हितरूप है, अपना ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि नियमसे कर लेनेका यत्न करिये।

अपना ध्यान—भैया! किसी की नहीं सुनना है। केवल एक अपने आपके अनुभव कि धुन रखना है, करना पड़े सब, पर धुन न छूटे, हमारा लक्ष्य न छूटे। यहाँ न कोई विश्वासके योग्य है और न कोई रमणके योग्य है, न मेरे लिए कोई सुन्दर है। मेरे लिए मैं ही सुन्दर हूँ, शिवरूप हूँ और शुद्ध हूँ। ऐसा अपने आपमें बल बढ़ायें तो उनके कर्मोंकी निर्जरा होती है। इस निर्जराके प्रकरणमें कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं

उवभोगमिन्दियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं ।

जं कुणादि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

ज्ञानीके उपभोगकी निर्जरानिमित्तता—कहते हैं कि चेतन और अचेतन द्रव्योंका जो इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करते हैं सम्यग्दृष्टि, वह सब निर्जराका निमित्त होता है। सभी कहते हैं कि बँधे हुए कर्म बिल्कुल छोड़ देते हुए नहीं झड़ते हैं। हाँ उदयसे एक समय भी पहिले यदि उसका संक्रमण कर देते हैं तो उसमें अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मोंका निष्फल कर देनेमें समर्थ एकत्वनिश्चयगत समयसारका आलम्बन है। एकत्व भावना भावनाओंमें प्रधान भावना है। इस एकत्व भावनाको कितने पदोंमें जीव भाया करते हैं। पहिले सर्व बाह्य पदार्थोंको अपनेसे पृथक् मानो, फिर शरीरसे पृथक्

कर्मोंसे पृथक् मानो, रागादिक विकारोंसे अलग अपनेको मानो। अपनेमें जो विचार विर्तक उत्पन्न होता है उन परिणतियोंसे भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तरमें प्रवेश करने वाले ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे कुछ रागादिक पीड़ा होती है। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञानस्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है। इसही कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्योंमें उपभोग किए जानेपर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंकी निर्जरा करता है।

निर्जराका कारण रागका अभाव—वीतराग पुरुषका उपभोग निर्जराकेलिए ही है। राग नहीं है तो वह कर्म बन्धन नहीं कराता है। जहाँ भी मौका तका वहाँसे ही छुट्टी ले लेता है। और राग है तो वह बँधन होता है। आप देख लो कि जिसको गैर मान रखा है किसी कारण उससे सम्मिलित हुआ, कुछ व्यवहार प्रवृत्ति हुई, किन्तु राग नहीं है तो जहाँ ही अवसर पाता है वहाँसे ही छुट्टी ले लेता है। घरके जिन लोगोंको अपना मान लिया है उनके द्वारा संकट भी बहुत आए, क्लेश भी बहुत आए तो भी आखिर अंत तक उनको निभाते हैं, उनमें प्रवृत्त रहते हैं। विरागका उपभोग निर्जराके लिए ही होता है और सरागों का उपभोग चूँकि उनके रागादिकका सद्भाव है अतः वह उपभोग उनके बँधके निमित्त ही होता है। वह उपभोग मिथ्यात्व बँधका कारण होता है।

एकत्वके उपयोगीके निर्जरा—सम्यग्दृष्टिके रागादिकका अभाव होता है। यह रागादिकका अभाव निर्जराका निमित्त होता है। यह बात द्रव्यानुयोगकी कही जा रही है। करणनुयोग यह बताता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मामें भी जितने अंशमें रागादिक हैं वे विकार के ही कारण हैं। यहाँ द्रव्यानुयोगमें उपयोगकी मुख्यतासे कथन है कि यदि व्यवहारमें वृत्ति नहीं करता है, व्यवहारसे हटा हुआ होता है तो वह निवृत्ति निर्जराके लिए होती है। यहाँ द्रव्यनिर्जराका स्वरूप बतला रहे हैं। कर्म आ रहे हैं। उदयमें और जीवके रागादिकका निमित्त पाकर चोट भी पहुँचे पर यह विश्वास व वृत्ति हो कि परमें हमें देखना ही नहीं है, केवल निज ज्ञानकस्वरूपको देखे तो कर्म निजीर्ण हो जाता है।

कल्पनाके संकट—देखो भैया! उदय आ गया तो यही आत्मापर गहरी चोट कही गई है। यहाँ तो संकट ही क्या है? जिस चाहे विकल्पको करके संकट मान लिया। जैसा वस्तुका स्वरूप नहीं है वैसा मानकर अपनेमें दुःख उत्पन्न कर लिया। अरे संकट वहाँ नहीं है। संकट तो निजमें है। जो कषाय उत्पन्न होती है, विकार भाव चलता है, वाञ्छा चलती है वह संकट है, और वह ऐसागहरा संकट है कि इस जीवको बहिर्मुख बनाकर इसका होश छुड़ाकर बाह्यमें मस्त करा देता है, संसारके जन्म मरणका चक्र बढ़ाता है।

अत्यल्प परिचित क्षेत्रसे मोहका परिहार—भैया! कितने जगहको आप जानते हैं? ३४३ घन राजू प्रमाण लोकमें हजार दो हजार मीलकी जगहके लोगोंको आपने समझ लिया तो बाकी कितने जीव पड़े हुए हैं? उनका तो आपको परिचय ही नहीं है। इस थोड़े से क्षेत्रका राग छोड़ दो तो यह तुम्हारे लिए भला ही तो है। इस जगतमें अन्य जीवोंसे तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तो उस ही असम्बन्धमें इनको भी बना लो।

अत्यल्प परिचित जीवोंके मोहका परिहार—कितने जगतके जीव हैं? क्या कोई हद है? अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमें अनन्त जीव मुक्त भी हो जाएँ तो भी अनन्त जीव शेष रहते हैं। उनके समल परिचयमें आए हुए १००-५० पुरुषोंको क्या गिनती है? समुद्रके एक बूँदकी गिनती हो सकती है पर इन जगतके जीवोंमें गिनती नहीं है। यह समुद्र असंख्यात बिन्दुवोंका समूह है। पर ये जीव तो अनन्त हैं। एक-एक बूँद घट-घटकर समुद्रका अंत कभी आ सकता है, पर अनन्त जीव यहांसे मुक्त हो जायें तो भी इन जीवोंका अंत नहीं आ सकता है। इन अनन्त जीवोंमें से इन १० ५० जीवोंको अपना मान लिया अथवा १०-५ लाख पुरुषोंकी दृष्टिमें हम अच्छे कहलायें, तो भला बतलावो ये कितने से जीव हैं, उन अनन्त जीवोंको तो हम कुछ नहीं समझते। उन अनन्त जीवोंका हमें परिचय ही नहीं है। उन ही अपरिचित जीवोंमें इनको भी शामिल कर दो, क्योंकि जैसे ये हैं तैसे ही तो वे भी हैं।

प्रभुकी आज्ञा माननेमें वास्तविक प्रभुभक्ति—भैया! इन जगतके जीवोंमें ये गैर है, ये मेरे हैं ऐसा भेद न डालो। श्रद्धामें, प्रतीतिमें स्वरूप तो निहारो। भगवान जिनेन्द्रने जो मार्ग बताया है उसपर हम नहीं चल सकते तो हमने भगवानकी क्या भक्ति की? प्रभुकी भक्ति यही है कि स्वरूपदृष्टि करके इन जगतके जीवोंमें भेद मत डालो, अन्तर न डालो। सब कुछ व्यवहारमें करना पड़ता है, ऐसा उदय है १०-२० आदमियोंका भार है, सम्हालना पड़ता है सब, किन्तु अपने स्वरूपके परिचयकी और धर्मका जब अवसर आये तब अन्तर मत डालो। सर्व एक चैतन्यस्वरूप हैं। हे प्रभो! यह व्यक्तिगतता, यह पृथक्ता मेरी समाप्त हो और उस चेतनस्वरूपमें ही मग्न होऊँ, उपयोगमें हमारी व्यक्तिगत सत्ता न रहे तो यह हमारे हितकी बात है।

निजस्वरूपभक्तिका यत्न—सो भैया! अन्तरमें करनेकी सारभूत बात निजस्वरूप भक्ति है। मुक्तिके मार्गमें जो निर्मल हुए हैं ऐसे परमात्मप्रभुके गुणोंको तर्कें, स्वरूपको देखें। घरमें बसे हुए जीवोंका गुणगान करनेसे क्या पूरा पड़ेगा? प्रभुका गुणगान हो और उस ही के समान अपने अन्तरमें स्वरूपको निरखो, यह तांता लगना चाहिए। किसी भी क्षण सबको भूल जावो। यदि ऐसा उत्तम होनहार बन सकता है तो उसका तो आदर होना चाहिए, किन्तु इस इष्ट अनिष्ट भावके कारण यह अन्तर मिट नहीं पाता, झट फँस जाता है।

ज्ञान ज्ञानके स्रोतकी ओर—भैया! अपने भागे हुए ज्ञानको अपनेमें लावो। जैसे पानी समुद्रसे उठता है, सूर्यकी गर्मीके आश्रयसे उठता है, मगर बादलोंके रूपमें सब जगह घिर जाता है, उड़ता रहता है। वर्षातमें बरसता है और बरसकर नीचे-नीचे बहकर फिर समुद्रमें प्रवेश कर जाता है। इसी प्रकार प्रथम तो इस आत्माका ज्ञान रागादिकके कर्मोंके आतापके निमित्तसे अपने आपके स्थानको छोड़कर उड़ा, संसारमें चारों ओर बिखर गया, कहाँ-कहाँ ज्ञान जाता है कहाँ-कहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है? चारों ओर बिखरता है। बिखरा हुआ यह ज्ञान ज्ञानबलसे फिर नीचेकी ओर आया। जहाँसे आया था उस ओर मिलनेके लिए अब फिर प्रयत्न करता है और नीचे-नीचे बहकर भीतर ही आकर इस ही आत्मामें प्रवेश कर जाता है। ऐसी होती है संतोंकी वृत्ति।

स्वरूपसे बाहरकी दृष्टिमें संकट—जब तक यह उपयोग अपने अध्यात्मको छोड़कर बाहरी अर्थोंमें विकल्पित रहता है तब तक दुःखमें रहता है। जैसे नदीमें जो कछुवा आदि जानवर होते हैं वे पानीके अन्दर किलोल मचाते हैं, उन्होंने पानीसे जरासा बाहर अपना सिर निकाला कि अन्य पक्षी लोग उसके ऊपर चोंच चलाने लगते हैं। उस समय उनका कर्तव्य यह है कि जब संकट बहुत ऊपर आ गए तो धीरेसे अपनी चोंचको अपने शरीरको पानीमें डुबो लें। फिर पक्षी लोग उसका क्या करेंगे इसी प्रकार यह जीव जब तक अपने उपयोग को बाहरमें नहीं भगाता है, निजकी दृष्टिमें रत है तब तक शांति है, सुख है, आनन्द है। और जहाँ अपने उपयोगको अपने ज्ञानसरोवरसे बाहर निकाल याने मोह नीदमें देखे जाने वाले पदार्थोंकी ओर उड़ा कि बस, अनेक संकट अनुभूत होने लगते हैं।

स्वयंमें ही संतोषकी प्राप्ति—भैया! अज्ञानमें तो संकट ही है, क्योंकि इच्छा तो आशयमें चल रही है और जैसी इच्छा करता है तैसी ही बाहरमें परिणति नहीं देख पाते हैं। हमारा कहीं बाहरसे कुछ परिणमन कर सकनेका अधिकार ही नहीं है। सत् जुदा-जुदा है। अपनी स्वरूप सीमाका कोई तांता तोड़ दे तो आज ही सबका अभाव हो जाय। ये सब चीजें आज है, यह बात सबको सिद्ध करती है कि सारी चीजें अपने-अपने स्वरूपसे सत् हैं। ऐसा ही भेदविज्ञान करके अन्तरमें प्रवेश हो जाय तो यह अपना पालन पोषण और संतोष करता है। अपने आत्मस्वभावको छोड़कर बाहरमें कितना ही भ्रम जाय, रमा जाय, और कितनी ही बड़ी-बड़ी चतुराईकी बातें कर ली जायें, और वैभव इज्जत पोजीशन कल्पनाके अनुसार कुछ भी किया जाय उन सबमें आत्मसंतोष न होगा, अंतमें संतोष होगा तो अपने आपके उपयोगमें ही होगा।

रागके आश्रयका अभाव—सहजस्वभावके आश्रयसे कर्म निर्जराको प्राप्त होते हैं। मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, ये रागद्वेषादिक विकार हैं, यह मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसी दृढ़ भावन के कारण उसके द्रव्यनिर्जरा होती है। नहीं तो उदयागत कर्मोंका काम था। जैसे कि आस्रवाधिकारमें बताया गया कि नवीन द्रव्य कर्मोंका बँध करता है, मगर यहाँ नहीं कर सकता है क्योंकि उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्म करनेका निमित्तपना रागदिक भावोंके कारण आया करता है। अब ये रागादिक भाव उपयोगको छू नहीं रहे हैं। होते हैं राग, पर रागमें राग नहीं है। मिथ्यादृष्टिके ही रागमें राग होता है। कदाचित् सम्यग्दृष्टिके भी राग होता है पर रागमें राग नहीं है।

रागमें राग न होनेका एक उदाहरण—जैसे घरमें चक्की पीसते हुएमें राग है और जो राग है उस रागमें भी राग है। वहाँ आसक्ति हुआ करती है। और जो कैदखानेमें चक्की पीसते हैं वे कोड़ेके बलसे पीसते हैं, वहाँ राग नहीं है। राग करना पड़े तो भी रागसे वे उठे रहते हैं। वहाँ चक्की पीसनेमें आसक्ति नहीं है। वह तो अवसर ताकता रहता है कि यह सिपाही जरासा मुख मोड़ेंकि पीसना छोड़ दिया। सम्यग्दृष्टि तो अवसर तका करता है। कब ऐसा अवसर आए कि कब इन सब खटपटोंसे मैं छुटकारा पाऊँ और इसी कारण जब कभी रंच भी अवसर पाता है तो वह अपने अवसरको व्यर्थ नहीं खोता है। ऐसे व्यक्ति के कर्मोंकी निर्जरा होती है। रागादिक भाव भी निजीर्ण

होते हैं। इस प्रकार निर्जराका स्वरूप कहा, अब भावनिर्जराका स्वरूप कुन्दकुन्दाचार्य अगली गाथामें बता रहे हैं

**दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहहुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ १९४ ॥**

परद्रव्योंके भोगे जानेपर सुख अथवा दुःख उत्पन्न होता है, सो उदयमें आये हुए उस सुख दुःखका यहाँ अनुभव तो होता है, किन्तु उनमें राग भाव न होनेके कारण वे द्रव्य कर्म निर्जराको प्राप्त होते हैं।

भावनिर्जरा परद्रव्योंका इन्द्रियों द्वारा उपभोग जब होता है तब उसका निमित्त या तो सुखरूप भाव होगा या दुःखरूप भाव होगा, क्योंकि भोगके प्रसंगमें उस भोगमें यह निश्चित है कि या तो साताका विकल्प होगा या असाताका विकल्प होगा। साता और असाताके विकल्पका कारण क्षोभ परिणाम है। क्षोभ हुए बिना न कोई साता कर सकता है, न असाता कर सकता है। जीव क्षोभसहित हुआ करता है तब उस भोगके फलमें नियमसे इस जीवको सुख या दुःखका परिणाम होता है। यह सुख दुःखरूप परिणाम जहाँ अनुभूत किया जाता है, बँध जाता है। उस समय मिथ्यादृष्टियोंके तो वह बँधका कारण बनता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंके रागादिक परिणामोंका सद्भाव है किन्तु उस परिणामनमें राग न होनेसे ज्ञाता पुरुषके बँधका कारण नहीं बनता है। उस सुख-दुःखके भोगे जानेपर यद्यपि कर्मोंकी निर्जरा मिथ्यादृष्टिके भी बराबर चलती रहती है तो भी वह चूँकि बँधक है सो बँध कर लेना भी अनिजीर्ण है। वह कर्जा चुकाना क्या है जिसमें दूसरेसे कर्जा लिया और दूसरेको चुकाया। हाँ, प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीवके चूँकि रागादिक भावोंका अभाव है सो बँधका कारण नहीं बनता। वह निजीर्ण होकर निर्जराको ही प्राप्त होता है। तो भावनिर्जरा रागादिकका अभाव है।

निर्जराके हेतुके सम्बन्धमें एक प्रश्नोत्तर यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आपने तो यह बतलाया पहिले कि रागद्वेषादिका अभाव होना निर्जराका कारण बनता है पर सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक हैं ही। १०वें गुणस्थान तक राग होता है। उसके कैसे निर्जरा हो जायगी? रागका अभाव ही तो निर्जरा है। राग होता है सूक्ष्म सम्पराय तक। निर्जराका वह कारण कैसे बन गया? ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर दिया जायगा कि प्रथम तो इस मोक्षकी कारणभूत निर्जराके लिए वीराग सम्यग्दृष्टिका ग्रहण है। जिसके राग न हो ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानीकी बात कही जा रही है कि उसके निर्जरा होती है। दूसरी बात यह है कि इस प्रसंग में जब कि इस ज्ञान शब्दके कहनेमें चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टिका भी ग्रहण कर लिया जाय तो सराग सम्यग्दृष्टि और वीतराग सम्यग्दृष्टि दोनोंकी एक कक्षा तो नहीं बन जायगी, वहाँ तो एक मुख्य गौण मानना पड़ेगा। ज्ञानी जीवके राग उठता है तो निरन्तर निर्जरा चलती है, ऐसा कथन मुख्य रूपसे तो वीतराग सम्यग्दृष्टिको लेना है और गौणरूपसे सराग सम्यग्दृष्टिको ग्रहण करना है।

अपेक्षाकृत निर्जरा—निर्जराके अपेक्षाकृत वर्णनको देखो, मिथ्यादृष्टिके जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टिके असंख्यातगुणी निर्जरा विशेष है। मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सन्मुख होता है अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंको करता है। ये तीनों परिणाम वहाँपर मिथ्यादृष्टि अवस्थामें होते हैं। अनिवृत्तिकरण परिणाममें अंतरकरण होता है, अनिवृत्ति करके अन्तमें उपशम सम्यक्त्व होता है। यह जीव अपूर्वकरणमें आकर निर्जरा कर डालता है। अत्यधिक कर्मोंकी निर्जरा तो यह मिथ्यादृष्टि अपूर्वकरण परिणाममें और अनिवृत्तिकरण परिणाममें कर डालता है जब कि सम्यक्त्व होता है तब शेष कर्म एक आनेसे कम समझो। करुणानुयोगके ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सम्यक्त्व होनेके पहिले इस जीवपर बहुतसे कर्मोंका भार लदा था। अब सम्यक्त्व होते ही भार कम रहता है। शेषका भार कब झड़ गया है सो बतलावो। वह झड़ गया है मिथ्यात्व अवस्थामें। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षासे असंयत सम्यग्दृष्टिको देखा जाय तो अब इस असंयत सम्यग्दृष्टि जीवके अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न होने वाला रागभाव नहीं है, और राग न हो तो निर्जरा होती है। तो जिन अंशोंमें ज्ञानी जीवोंके रागादिक नहीं हैं तो वहाँ निर्जरा ही मानी जायगी।

सम्यग्दृष्टियोंमें अपेक्षाकृत विशेष निर्जरा—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उदय भी नहीं है। इस कारण इस चौकड़ी द्वारा जनित रागादिक नहीं है। इसका इस रागकी उपेक्षाके अभावसे संवर और निर्जरा और विशेष हो जाती है, फिर इसकी अपेक्षा प्रत्याख्यानावरणरहित ज्ञानीके और विशेष निर्जरा है। दो उत्तर हुए। तीसरा उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा संवरपूर्वक होती है और मिथ्यादृष्टिके निर्जरा बंधपूर्वक होती है। मिथ्यादृष्टिके उदयागत कर्म नवीन कर्मोंको बाँधकर विदा होते हैं, यों ही चुपचाप विदा नहीं होते हैं, सो मिथ्यादृष्टिकी निर्जरा बंधपूर्वक होती है और सम्यग्दृष्टिकी निर्जरा संवरपूर्वक होती है। इस कारणसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा समस्त सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा है पर पहिले कहे गए दोनों अपेक्षाओंसे भी जानना। जिस उपेक्षासे जब वर्णन किया जाता है उस उपेक्षामें रहकर उस वर्णनको डटकर किया जायगा।

अपेक्षाकृत वर्णनकी समीनताका उदाहरण—जैसे स्याद्वादके प्रकरणमें जब मित्यत्व सप्तभंगीका प्रयोग करते हैं तो इस प्रकार करते हैं स्यात् नित्यमेव। स्यात् अनित्यमेव। उसमें 'एव' शब्द बोला। पदार्थ एक अपेक्षासे नित्य ही हैं। अगर इसमें संशय करोगे तो दोष लगेगा। जैसे किसी पुरुषके लिए कहा जाय उसके पिताका नाम लेकर कि यह तो उसका पुत्र ही है। इसमें 'ही' लगानेमें कोई भय रहता है क्या? नहीं। यदि उसमें एव न लगाकर कहें कि क्या उसका पुत्र भी है तो इसमें दोष लग जायगा। क्या इसका पिता भी बन जायगा? अपेक्षा लगाया और भी लगाया तो इसमें अनर्थ होता है। अपेक्षा न लगायें और भीतरमें अवश्य अपेक्षा समझें तो 'भी' की शोभा है पर अपेक्षा लगाकर 'भी' बोलना अनर्थ है। तो भैया! ये तीन प्रकारके जो प्रकरणमें उत्तर दिए गए हैं उनकी

उन-उन अपेक्षाओंसे वैसा ही निर्णय करना। जहाँ एकदम सीधा सामान्य रूपसे यह कहा जाय कि सम्यग्दृष्टि जीवके बँध नहीं होता है। चाहे वह चतुर्थ गुणस्थान वाला हो और चाहे कोई गुणस्थान वाला हो वहाँ क्या भाव लगाना कि मिथ्यादृष्टि जीवोंके बँधपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिए मिथ्यात्वसे बँधने वाली प्रकृतियोंकी सम्यग्दृष्टि जीवके संवरपूर्वक ही निर्जरा होती है। इस कारण सर्वथा अबँधक कह सकते हैं।

अज्ञानीके ज्ञानकलाका अनादर—देखो इस सम्यग्दृष्टिकी महिमाको जानकर, सुनकर अनेक पुरुष यह सोचेंगे कि ओह हमको तो चौथा गुणस्थान ही भला है। अधिक तपस्या ब्रत नहीं करना है। देखो तो ये असंयत सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकारके भोग भोगते रहते हैं फिर भी यहाँ अबँधक कहा गया है। तो जहाँ दोनों हाथ लड़्डू मिलते हों, घर भी न छोड़ना पड़े, ब्रत, तप, संयम भी न करना पड़े और अबँधक भी बन जायें, ऐसा तो बहुत सस्ता मामला है। हमको तो चतुर्थ गुणस्थान ही सम्यक् है; लेकिन कहना ही आसान है, किन्तु वह कौन-सी अग्नि कणिका उस सम्यग्दृष्टिके अन्दर जल रही है जिसके कारण भोग भोगते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता है। उसकी कलाको तो निरखो। वह कौन-सी कला है? वह कला है ज्ञानकी, वैराग्यकी। दूसरे अज्ञानी जीव सुनकर भले ही खुश होते हैं कि असंयत सम्यक्त्व चाहिए, वह मजेमें हैं, घरमें रहें, भोग भी भोगें तो भी कर्मोंसे नहीं बँधते हैं। मगर यह भी देखो कि वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भोग कैसे भोग रहा है कि भोग भोगते हुएमें कष्ट मान रहा है, आपत्ति समझ रहा है, उससे निवृत्त होनेकी इच्छा करता है। जिस भोगसे हटनेकी भावना हो वह भोग क्या भोग है? सम्यग्दृष्टि की ज्ञानकलाका आदर अज्ञानी जीव कैसे कर सकता है?

ज्ञान और वैराग्यका सामर्थ्य—ऐसी स्थित ज्ञान और वैराग्यके कारण होती है। देखो कितनी उम्र गुजर गई, कितना-कितना खाये, कितने भोग भोगे? उन सबसे जो सुख हुआ है वह तो बहुत इकट्ठा हो गया होगा। क्योंकि ४०-५० वर्ष का सुख इकट्ठा हो गया होगा। पर अपनी आत्मभूमिकी तिजोरीमें देखोतो सही कि कितना दुःख इसमें हैं? जितने भोग भोगे हैं उनका दुःख और पछतावा तो सम्भव है कि हृदयमें हो, पर जो सुख भोगा वह सुख तो उसमें रंचमात्र भी नहीं है। यह ज्ञान और वैराग्य में ही सामर्थ्य है कि कोई व्यक्ति भोग भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता है। इन दोनों प्रकारकी सामर्थ्यमें यहाँ ज्ञानकी सामर्थ्य बतलाते हैं।

जह विसमुवभुजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।

पुग्गलकम्मसुदयं तह भुजंदि णेव बज्झये णाणी ॥ १९५ ॥

एक मांत्रिकके दृष्टान्तपूर्वक उपयोगकालमें भी ज्ञानीके कर्मनिर्जरणाका कथन—जैसे विषको भोगते हुए भी वैद्य पुरुष मरणको प्राप्त नहीं होता है उस ही प्रकार ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता तो है, किन्तु बँधको प्राप्त नहीं होता है। विज्जो शब्दके यहाँ दो अर्थ हैं एक तो वैद्य आयुर्वेदिक और दूसरा विद्यासिद्ध पुरुष। विद्यासे वैद्य बना है, जो विद्या का

जानकार हो। जैसे किसीको मंत्रविद्या सिद्ध है और जिसमें ऐसा प्रताप है कि विष भी खाये तो उसका असर नहीं होता। ऐसा विद्यावान पुरुष विष खाता हुआ भी मरणको नहीं प्राप्त होता है और विद्याहीन पुरुष विष खानेपर ही शीघ्र मरणको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जिसको स्वरूपविद्या अनुभवमें आ गई है, जिसकी निरंतर आत्महितके लिए, आत्मरक्षाके लिए अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि, दृढ़तम हो गई है ऐसा विद्यावान पुरुष, सहज ज्ञानवान पुरुष इस भोगको भोगता हुआ भी, कर्मफलोंको पाता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता है।

कर्मभोगके कालमें भी ज्ञानीकी कर्मनिर्जरापर एक वैद्यका दृष्टान्त—अथवा जैसे कोई आयुर्वेदका जानकार वैद्य है, उसे संख्या विष दे दें और वह औषधिके रूपमें विधिवत् सिद्ध कर ले तो उस संख्याको खाते हुए भी वह मरणको प्राप्त नहीं होता। उस ही प्रकार ज्ञानी पुरुष इस कर्मफलरूप भोगोंको भोगता हुआ भी उस भोगपरिणामके साथ-साथ ज्ञानदृष्टिकी औषधिके कारण उसकी मार्मिक शक्तिको दूर कर देता है। फिर उस उस भोगको भोगता हुआ भी यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष बँधको प्राप्त नहीं होता है। अतः इस सम्यग्दृष्टिको अबँधक कहा है।

संसारबन्धनकी बन्धनता—जैसे किसी पुरुषपर १ लाखका कर्जा है और उसने ६६ हजार ६६६ रुपया कर्जा चुका दिया है और १ रुपया शेष देना रह गया है तो वह कर्जा नहीं कहलाता है। जैसे आप किसी धनिककी ऐसी कथा सुनते हैं कि जब कोई गरीब था तो उसके इतनी नौबत आ गई कि घरका लोटा भी दूसरे के यहाँ धरोहर धर दिया और उन्हीं पैसोंसे खानेका काम चलाया। कहीं वह चला गया और व्यापार बढ़ गया तो वह करोड़पति हो गया। बादमें ख्याल आया कि अमुकके यहाँ धरोहरमें लोटा रखा है, और उसने कहा अपना हिसाब कर लो। हमारा लोटा दे दो और अपना हिसाब ठीक करा लो। हिसाब किया तो १० हजारका कर्जा हो गया। वह तो २-४ रुपयोंकी धरोहर था। पर वह कहता है कि अपने १० हजार ले लो। मुझे कर्जदार नहीं कहलाना है। उसके वैभव को देखकर लोग यह नहीं समझते हैं कि ये कर्जदार है तो इस लोककी व्यवस्था भी तो देखना चाहिए। वैभव देखकर ही तो व्यवस्था बनती है। इसी प्रकार यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जब अनन्त संसारको काट चुका, कोड़ाकोड़ी सगरोंकी स्थितिको खत्म कर दिया मिथ्यादृष्ट अवस्थामें सम्यक्त्वकी उन्मुखतामें तो अब समझो कि सम्यक्त्व जगनेपर बहुत कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति रहती है, उसका संसार कट चुका, अब संसारका बँधक नहीं रहा।

ज्ञानीका संसारच्छेद—देखो भैया! कोड़ाकोड़ीसे बहुत ही नीचेकी स्थिति है वह अन्तःकोड़ाकोड़ी। ७० कोड़ाकोड़ी खत्म हो जायें और मामूली स्थिति रह जाय तो समझो कि यह ज्ञानी जीव सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए मिथ्यात्व अवस्थामें कितनी निर्जरा कर डालता है? अब उसके लिए निर्जरा करने लायक कर्म अत्यल्प रह गए, ५ प्रतिशत भी नहीं बैठता। तो अब देख लो मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा यह सम्यग्दृष्टि जीव अबँधक हुआ ना। यह सब ज्ञान और वैराग्यका ही तो प्रताप है। यों ज्ञान और वैराग्यमें सामर्थ्य देखी जा रही है।

अज्ञानीके बंधका कारणभूत भी उपभोग ज्ञानीके बंधका अकारण—जैसे किसी पुरुष के लिए विष मरणका कारण है और वैद्यमें वह सामर्थ्य है कि वह उस विषकी शक्तिको कील देता है, रोक देता है इसलिए अब वह नहीं मरता है। इसी प्रकार जो पुद्गल रागादिक भावोंका सद्भाव होनेके कारण ज्ञानी जनोंके बंधके कारण होते हैं वही उपभोग अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्य होनेसे चूँकि रागादिक नहीं रहते हैं सो उपभोगकी आसक्तिको विच्छिन्न कर देते हैं। अब वे ज्ञानी जीव कर्म नहीं बाँधते हैं।

भ्रमके विच्छेदमें विकास—भैया! हम ज्ञानमय हैं, कुछ न कुछ निरन्तर जानते रहते हैं। हम कैसा जानें कि सुख हो जाय और कैसा जानें कि दुःख हो जाय। ये सुख और दुःख ज्ञानपर ही निर्भर हैं। बाह्य वस्तुवोंपर सुख और दुःख निर्भर नहीं हैं। बाह्य पदार्थ हमें दुःख नहीं देते हैं, किन्तु मेरे ही ज्ञानकी कला यदि उल्टी चलती है तो दुःख होता है और हमारे ही ज्ञानकी कला यदि स्वरूपके प्रतिकूल चलती है तो दुःख होता है और हमारे ही ज्ञानकी कला यदि स्वरूपके अनुकूल चलती है तो सुख हो जाता है। अपने दुःखमें किसी दूसरे जीवको अपराधी बताएँ तो यह एक भ्रम है।

कुत्तेके उपमाकी अरुचिकरता—इस ही भ्रममें रहनेके अन्तरका एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। एक जानवर होता है कुत्ता। बड़ा आज्ञाकारी होता है। रोटीके दो टुकड़ोंमें ही कितना विनयवान हो जाता है? आपके चरणोंमें गिर जाता है। कितना आपके काम आता है। अगर कोई पशु आक्रमण तुम्हारे ऊपर करे तो वह उसका मुकाबला करता है, रात्रिमें चोर आदि आये तो उन पर टूटकर मुकाबला करता है। इस तरहसे कितना आज्ञाकारी और विनयशील कुत्ता होता है। यदि कोई सभामें किसीकी प्रशंसा करे कि भाई आप तो बड़े परोपकारी हैं, इस देशकी समाज की आप निश्छल सेवा करते हैं। इनका वर्णन कहाँ तक किया जाय, ये तो कुत्तेके समान हैं। देखो अच्छी बात कही गई है, कुत्ता उपकारी है, विनयशील है, आज्ञाकारी है, सर्व गुण युक्त है तो भी उसकी उपमा सुनकर क्या वह खुश होगा? नहीं। न तो सुनने वाले खुश होते हैं और न जिनकी प्रशंसा की गई वह खुश होता है, बल्कि बुरा मान जाते हैं। यहाँ क्या कारण हो गया है?

सिंहकी उपमाकी रुचिकरता—और देखो सिंह जो महादुष्ट है, हिंसक है, जिसकी शकल दिख जाय तो देखते ही होसहवास उड़ जाते हैं। अजायबघरमें लोहेके सीकचोंके अन्दर सिंह बंधे रहते हैं। देखने वाले जाते हैं तो जान रहे हैं कि सीकचेके अन्दर बंद हैं। यहाँसे निकल नहीं सकते, किन्तु जरासा गुर्गुरा जायें तो देखने वाले डरके मारे १० हाथ दूर भाग जाते हैं। इस प्रकारका भय पैदा करा देने वाला, बध करने वाला सिंह है, पर यदि कोई यह प्रशंसा कर दे कि आप तो सिंहके समान हैं तो कहा तो गया कि आप सिंहके समान आक्रमणकारी है, आप किसी कामके नहीं हैं, दूसरोंको मारने वाले हैं, किसीके काम न आने वाले हैं, अर्थ तो यह हुआ, पर सिंहकी उपमा सुनकर सुननेवाले और जिसको कहा जा रहा है वह भी सभी प्रसन्न हो जाते हैं।

दृष्टिसे वृत्तिमें अन्तर—कुत्ता और सिंहकी उपमामें यह फर्क कहाँसे आ गया? यह फर्क इस ही प्रकरणको सिद्ध करनेवाला है कि कुत्तेमें सब गुण हैं, किन्तु एक अज्ञान ऐसा है कि जिसके कारण सब गुण पानीमें फिर गए। वह अज्ञान है केवल दृष्टिका। कुत्ते को लाठी कोई मारे तो वह लाठी को चबाता है, वह समझता है कि मुझे मारने वाली लाठी है उसके आशु बुद्धि नहीं होती। वह जानता है कि मुझे लाठी ने मारा। जब कि सिंहके सही दृष्टि होती है। उसे कोई तलवार मारे, भाला मारे, तीर मारे, बन्दूक मारे तो वह इन को देखता भी नहीं है, सीधे आक्रामकपर ही वह आक्रमण कर देता है। उसकी दृष्टि शुद्ध होती है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि तो निमित्तोंको सुख-दुःख पाता मानता है, किन्तु पुरुष भोगोंके साधन होनेपर भी उनपर दृष्टि नहीं देता है। वह अपने विकल्पोंको क्लेशकारी मानता है। वह समझता है कि मुझे दुःखी करने वाला मेरा विकल्प ही है। मुझे कोई अन्य पदार्थ दुःखी नहीं करते हैं।

बाह्यमें स्वकी बाधकताका अभाव—भैया! जब तक अंतरंगमें समीचीन दृष्टि नहीं जगती है तब तक इस जीवका कल्याण नहीं हो सकता है। कितना ही वैभव एकत्रित हो जाय पर इससे पूरा न पड़ेगा। क्या इसका वियोग कभी होगा नहीं? अवश्य होगा। अपने आपमें जो परिणाम बनाए जाते हैं, संकल्प विकल्प किये जाते हैं उनके फलमें जो भावबंध और द्रव्यबंध होता है उसको भोगना पड़ेगा। तो अपने एकत्वका निर्णय करो कि मैं केवल एक अकेला ही चैतन्यरूप मात्र हूँ। यह मैं केवल अपने चैतन्यभावके परिणामनको ही कर सकता हूँ और इसको ही भोग सकता हूँ। मेरा विरोधी जगतमें कोई दूसरा जीव नहीं है। सब जीव अपने-अपने परिणामोंके अनुसार अपनी-अपनी योजनाएँ किया करते हैं। मेरा विरोधक बाहरमें कुछ नहीं हो सकता है। मैं ही अज्ञानवश सर्व चेष्टाओंको चखकर एकरूप बनाकर स्वयं दुःखी हुआ करता हूँ। ऐसा यथार्थ निश्चित हो जाना सर्ववैभवोंसे बढ़कर है, जो तीन लोककी सम्पदासे बढ़कर है, उत्कृष्ट है। इससे उत्कृष्ट और कोई वैभव नहीं हो सकता है।

निजशरणकी दृष्टि—भैया! मरकर भी, पचकर भी, असह्य वेदना भोगकर भी यदि एक यह आत्मस्पर्शकी दृष्टि बन जाती है तो समझो कि कृतकृत्यता होगी। जो करने योग्य काम हैं वे कर लो, अंतरंगमें विश्वास किसी उत्कृष्ट तत्त्वका ही रहना चाहिए। इन जड़ों में और भिन्न चेतन पुरुषोंके समागममें महत्व न देना चाहिए। रहते हैं वहाँ व्यवस्था करते हैं, वहाँ महत्व नहीं देना चाहिए। इस लोकमें किसी जीवका कोई अन्य शरण नहीं है। अपनी सावधानी ही अपने लिए वास्तविक शरण है। ऐसा जानकर अपनको विश्राममें लाकर विश्राम मिलता है, परपदार्थोंमें इष्ट अनष्टिका ख्याल न करनेसे होने वाले विश्राममें रहकर अपने आपके अतुल इस ज्ञानसम्पदाका अनुभव करें और कृतकृत्यताके मार्गमें बढ़ें, यही मनुष्यजन्ममें एक सर्वोत्कृष्ट अपना कर्तव्य है:

अब वैराग्यका सामर्थ्य दिखाते हैं।

**जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्ववभोगे अरदो णाणी वि ण मज्झदि तहेव ॥ १९६ ॥**

जैसे कोई पुरुष मदिराको अरति भावसे पीता हुआ मतवाला नहीं होता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव भी द्रव्योंके उपयोगमें अरत होता हुआ बँधता नहीं है।

वैराग्यका बल—जैसे किसी पुरुषको किसी औषधिमें किंचित् मदिरा पिलावें तो चूँकि उस पीने वालेको मदिरामें रति नहीं है इसलिए पी करके भी मतवाला नहीं होता है। इसी प्रकार कर्मोंके उदयवश किंचित् उपभोग भी करता है तो भी अरतिभावको भोगता है इस कारण उसके कर्मोंका बँध नहीं होता है। ज्ञानी जीव चूँकि अपने सहज ज्ञानमात्रस्वरूपका उपयोग द्वारा अनुभवन कर लेता है और उस चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके अनुभवनके प्रसादसे एक अलौकिक आनन्द प्रकट कर लेता है। इस कारण उसको अन्य द्रव्योंके उपभोग के प्रति तीव्र विरागभाव है। कोई ज्ञानी गृहस्थ भी हो और वह घरके परिवार जनोंसे और काम-काजोंसे कुछ व्यवहार भी रखता है तो भी अन्तरसे पूर्ण हटा रहनेका परिणाम रहता है। इस कारण विषयोंको भोगता हुआ भी तीव्र वैराग्यभावकी सामर्थ्यसे वह ज्ञानी जीव बँधता नहीं है।

कर्मबन्धकी आशयमूलकता—यह ज्ञानी विषयोंका सेवन करके भी विषयोंके सेवनके फलको प्राप्त नहीं करता है अर्थात् विषयसेवनका फल हुआ कर्मबँध। कर्मबँधको नहीं करता है ऐसा उसमें ज्ञान और वैराग्यका बल है। जिस वैभवके कारण विषयोंको सेवता हुआ भी यह असेवक कहा जाता है। किसी कार्यमें प्रवृत्त होकर भी यदि कार्य रुचिपूर्वक नहीं किया जाता, अंतरंगसे हटकर किया जाता है तो वह उसका सेवक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कर्मबँध मन, वचन, कायकी चेष्टाओंको देखकर नहीं होता, किन्तु भीतरी आशयके अनुकूल कर्मबँध होता है। अब इस ही बातको दिखाते हैं कि ऐसा क्यों हो जाता है कि सेवता हुआ भी सेवक नहीं है। कुछ दृष्टान्तोंसहित इसका विवरण करते हैं।

**सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोइ ।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होइ ॥ १९७ ॥**

ममताके अभावसे करता हुआ भी अकारक—कोई पुरुष विषयोंको सेवता हुआ भी सेवनेवाला कहा जाता है जैसे किसी पुरुषके किसी कार्यके करनेकी चेष्टा तो है; अर्थात् उस प्रकरणमें सब क्रियाओंको करता है तो वह भी किसीका कराया हुआ करता है, उदयवश करता है, वह कार्यके करनेका स्वामी नहीं कहा जाता है। इस सम्बन्धमें अनेक दृष्टान्त हैं। एक कैदी सिपाहियोंके कोड़ेंकी प्रेरणासे चक्कीको पीसता है, मगर उस पीसनेमें रतिभाव नहीं है। उसे उस पीसनेमें अरतिभाव है। तो करता कुछ है और करनेका मनमें आशय नहीं है, ऐसे अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। एक मुनीम सेठकी चाकरी करता है और वैभव सम्हालता है, तिजोरी सुरक्षित रखता है, बैंकोंका लेन-देन का व्यवहार भी करता है, हमारा तुमपर इतना गया है, तुम्हारा हमपर इतना

आया है, ऐसा व्यवहार भी करता है, पर दो मिनटको भी उसके चित्तमें यह आशय नहीं है कि यह मेरा है या मैं इसका मालिक हूँ। मगर देखने वाले लोग यह समझते हैं कि यह बहुत व्यापारमें श्रम करता है, इसके बड़ा राग है, किन्तु उसका हृदय रागसे रहित है। बल्कि सेठजी मुश्किलसे एक घंटेके लिए दुकान पर बैठते हों या इधर-उधर ही कहीं बैठे हों, पर वह सेठ आशयमें राग बढ़ाता रहता है, वह सेठ बँधक है। यह मुनीम बँधक नहीं है।

सेवते हुएके भी असेवकतापर एक दृष्टान्त—स्वसुराल जाने वाली लड़की दस बार स्वसुराल हो आई हो, फिर भी जब जायगी तब ऐसा रुदन करके जाती है कि सुनकर दूसरों को रुदन आ जाता है। पर यह बहुत सम्भव है कि उसका हृदय खुशीसे भरा हुआ है। अब घर जा रही हैं, सब व्यवस्था सम्हालेंगी। तो आशय कुछ है और करते कुछ हैं, ऐसी बहुत-सी बातें जगतमें हुआ करती हैं। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष इस जगतमें रहकर मन वचन काय की चेष्टाएँ करता है और वे चेष्टाएँ ऐसी दिखती हैं जैसी मिथ्यादृष्टि पुरुषकी चेष्टाएँ होती हैं। लेकिन अन्तरमें किसके क्या है, इस बातको अज्ञानी नहीं समझ सकते। अज्ञानी इस स्वरूपको समझ सकता कि कहाँ लौ लगी है, कहाँ दृष्टि है?

निर्मोही और मोहीमें अन्तर—भैया! इस लोकमें जो कुछ भी समागम मिले हैं वे सब असार और अनित्य हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं। और जब तक रहते हैं तब तक भी वे शांतिके हेतु नहीं हैं। वे हेतु बनेंगे तो अशांतिके ही बनेंगे। ऐसे अशांतिके हेतुभूत ये समस्त समागम हैं। इन समागमोंमें जो रुचि रखता है वह इस जगतमें जन्म-मरणके चक्र लगाता है। यथार्थ स्वरूपके परिचयी पुरुष उससे अलग रहते हैं। कितना अन्तर है ऐसे निर्मोह गृहस्थ और निर्मोह साधु में? निर्मोह गृहस्थ गृहस्थीमें रहता हुआ भी साधुताकी भावना करता हो और सबकुछ छोड़े हुए साधुजन यदि ऐसा सोचें कि गृहस्थी परिवार होता है तो वहाँ बड़ा आराम आनन्द है ऐसा यदि भाव है तो इन दोनोंमें कितना महान अन्तर हो जाता है? इसी दृष्टिसे यह निर्णय साधुसम्मत है कि निर्मोह गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें स्थित है, किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है।

परके आश्रयमें निर्विकल्पता असंभव—भैया! आत्मकल्याणके लिए करनेका काम तो सरल है। न उसमें मेहनत है, न उसमें क्षोभ है। केवल अपने उपयोग द्वारा अपने आपके उपयोगको जानते रहना है। कितना स्वाधीन काम है जहाँ रंच भी खेद नहीं, स्वाधीन काम है। किन्तु जिसका होनहार अच्छा है वही करनेमें समर्थ हो सकता है। लाखों और करोड़ोंका वैभव हो जाय, अरे जितने देशका विस्तार पड़ा है उन सबको ही अपना मान लो ना। कितना ही धनी हो गए आखिर इस भवमें भी आत्माके स्वरूपसे अत्यन्त परे है, आत्मामें उन सबका अत्यन्ताभाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सर्व दृष्टियोंसे पृथक् है। उनका विकल्प ही तो हो सकता है, पर उनका लक्ष्य करके निर्विकल्प अवस्था नहीं हो सकती है। जो हमारे घातके ही निमित्त बनते हैं उनमें हम रुचिपूर्वक लगते हैं, यही तो उल्टा चलना है।

स्वोपलब्धि बिना परनिवृत्ति असंभव—भैया! हम कर रहे हैं करना पड़ता है। पर जानें तो सही कि यह मेरे करने योग्य कार्य नहीं है। मेरे स्वभावसे यह अत्यन्त परे है, बाह्य है विभाव है, विरुद्ध चेष्टायें हैं। यह मेरे करने योग्य नहीं है इतना ध्यान तो जाय। पर इतना ध्यान कैसे हो जाय? इससे अलौकिक विलक्षण अनुपम सारभूत ध्रुव सारतत्त्वको निरखते रहें। जब ऐसी दृष्टि जगे तभी कल्याण है।

स्वरसका अनुभव होनेपर विषयविषपरिहार संभव—कोई भिखारी अपनी झोलीमें बासी रोटियाँ लिए हुए है, उसे बहुत समझावो कि अरे भिखारी तू बासी रोटियोंको फेंक दे, तुझे मैं ताजी पूड़ियाँ बनवाकर दूँगा। तो उसे विश्वास नहीं होता है। वह उन बासी रोटियोंको फेंक नहीं सकता है। उन्हें वह सम्हाले रहता है। अरे तुम्हें दया आई है तो पूड़ियाँ बनवाकर उसकी पहिले झोली भर दो फिर वह फेंक देगा। पूड़ियोंकी आशा लगाकर वह उन रोटियोंको फेंक दे ऐसा बल उसमें नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानी मोही जीव बासी तिवासी अनादि कालसे जूठे किए गए भोग अपनी झोलीमें भरे हुए हैं। गुरुजन, संतजन यह समझाते हैं कि अरे इनको तू उगल, इन विषयभोगोंकी वासनाको तू तज, इनमें सुख नहीं है। पर मोही मान कैसे जाये? यदि उसकी दृष्टिमें उससे अनुपम जैसे सुखको प्राप्त करानेके लिए गुरुजनोंका उपदेश है उसकी झलक आ जाय तो फिर उसे छोड़नेमें विलम्ब नहीं रहता है।

यथार्थज्ञानका परपरिहारस्वभाव—वह ज्ञानसे तो तुरन्त छोड़ देता है। अब बाहर के छोड़नेमें भले ही थोड़ा समय लगे, वह बात अलग है। जैसे किसी धोबी के यहाँ किसीका और उसके पड़ोसीका चादर धुलने गया हो, तीसरे चौथे दिन जाकर वह चादर ले आये, बदलेमें पड़ोसीकी चादर आ गई। न धोबी ने विवेक किया और न लानेवालेने विवेक किया। वह अपनी ही समझ रहा है। सो उस चद्दरको ताने हुए सो रहा है। पड़ोसी भी बादमें गया सो धोबी दूसरेकी चादर उसे देने लगा। उसने देखा तो कहा यह मेरी चादर नहीं है, इस चादरमें मेरी चादरके निशान नहीं पाये जाते हैं। कहा ओह मालूम होता है कि वह चादर बदल गई है। कहा तुम्हारी चादर अमुक पड़ोसीके यहाँ पहुँच गई है। वह जाता है वहाँ, देखा कि पड़ोसी उस चादरको ओढ़े हुए सो रहा है। वह उस चादरको खींचकर कहता है अरे भाई उठो। वह जग जाता है। क्या है? भाई यह चादर मेरी है। यह बदल गई है। तुम्हारी चादर धोबीके यहाँ रखी है। इतनी बात सुनकर उसने उस चादरको देखा तो अपनी चादरके चिह्न न मिले। और जो नाना चिह्न थे जिनका परिचय ही न था। इतनी बात जाननेपर ही उसके ज्ञानमें स्पष्ट विवेक हो गया कि यह चादर मेरी नहीं है। ज्ञानने चद्दरको त्याग दिया।

मोहरहित रागकी नीरसता—यथार्थ ज्ञान होनेके पहिले यथार्थज्ञान न करने तक उस चादरको वह ज्ञान अंगीकार कर रहा था, उससे राग कर रहा था। अब जैसे ही यथार्थ ज्ञान हुआ उसका चादरसे राग छूट गया। ज्ञानने चद्दरका त्याग कर दिया। अब भले ही थोड़ा उस चादरको उतारनेसे

देर लगे या थोड़ा ऐसा राग उत्पन्न हो कि हमारी चादर मिले तब अपनी ले लो। भले ही चादरके ऊपर ऐसा झगड़ा करे, पर उस चादरसे मोह उसका छूट गया। चाहे यह भले ही कहे कि मेरा चादर धोबीसे लाकर दो, किन्तु ज्ञानने चादरको सर्वथा छोड़ दिया। शरीरपर चादर होनेपर भी ज्ञानने पूर्ण त्याग कर दिया, क्योंकि यथार्थ ज्ञान हो गया ना। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुषको आत्माका यथार्थज्ञान हो जाता है तो वह आत्माके अतिरिक्त सर्वभावोंको, परभावोंको सर्वथा त्याग देता है। भले ही कर्मोदयवश कमजोरीसे रहना पड़ता हो परपदार्थोंके बीचमें, पर वह ज्ञानसे ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त सबका त्याग कर देता है।

ममत्वके सद्भाव व अभावसे प्राकरणिकता व अप्राकरणिकता—यह ज्ञानी पुरुष किसी भी प्रकरणमें व्यापार करता हुआ भी प्रकरणका स्वामी नहीं होता। वह प्राकरणिक नहीं होता है, किन्तु अन्य पुरुष जिनको राग है, मोह है वे कार्यमें यद्यपि नहीं लग रहे हैं, फिर भी कार्यका स्वामी बननेके कारण प्राकरणिक होते रहते हैं, बँधक होते रहते हैं। जैसे बारात निकलनेके दिन पड़ोसिनियोंको गीत गानेके लिए बुलाया जाता है। गीत गानेके फलमें आध-आध पाव बतासे मिल जायेंगे, सो वे बड़ी तेजीसे गीत गाती हैं। “बनी राम-लखनकी जोरी, मेरा दूल्हा सरदार” आदि अनेक तरहके गीत बड़े अनुरागसे गाती हैं परन्तु उन्हें दूल्हासे रंच भी अनुराग नहीं है, किन्तु वह माँ जो बहुत कामोंमें लगी रहनेके कारण गानेका एक तुक भी नहीं गाती है, न उतना समय है, लेकिन उन सबकी मालिक वह माँ है। कदाचित घड़ेसे गिरकर दूल्हाके हाथ पैर टूट जायें तो पड़ोसिनियोंको दुःख न होगा, जो बहुत तेजीसे गीत गा रही हैं। दुःख होगा उसे जो उस प्रकरणमें अपनेको स्वामी मानता है। वे पड़ोसिनियाँ उस प्रकरणमें अपनेको स्वामी नहीं मानतीं।

सम्यग्दृष्टिका परिणाम—इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव प्राक् पदवीमें पूर्व संचित कर्मोदयसे उत्पन्न हुए विषयोंको सेवता हुआ भी उन विषयोंमें स्वामित्व अंगीकार नहीं करता है इसलिए प्राकरणिक नहीं होता है, किन्तु अन्य जीव जो उन विषयोंको न भी सेवते हुए वासनामें निरन्तर लगे रहते हैं वे चूँकि उनके रागादिक भाव सद्भाव निरन्तर चलते रहते हैं इस कारण विषय फलके सेवनेका स्वामित्व होनेसे सेवक ही कहलाते हैं। यों सम्यग्दृष्टि पुरुषमें नियमतः ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति स्पष्ट प्रकट होती है। वह क्या करना चाहता है? सम्यग्दृष्टिका क्या प्रोग्राम है? वह चाहता है कि मैं अपने ही वस्तुत्वको अपने उपयोगमें ग्रहण करूँ। ओह यह कितना उदार है, किसी परवस्तुका दिल नहीं दुखाता है, बिगाड़, परिवर्तन नहीं करना चाहता है। इसमें कितना धैर्य है, यह किसी भी परवस्तुकी वाञ्छाका क्षोभ नहीं करता है। यह कितना गम्भीर है? अपने आपमें अपने आप ही समाता हुआ चला जा रहा है। इतनी गहराईके भीतरमें वह गहराई दूर नहीं है, निकट है, किन्तु उथला होनेपर भी अत्यन्त गम्भीर है। यह अपने वस्तुत्वको ग्रहण कदनेके लिए ही अपने स्वरूपकी प्राप्ति करता है और परस्वरूपका त्याग करता है।

सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता भैया! प्रत्येक द्रव्य चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो, चाहे अचेतन हो सब अपने अपने द्रव्यमें है। कोई किसी परद्रव्यमें नहीं है। मिथ्यादृष्टि कल्पनासे परवस्तुओंको अपनेमें बसाये है प्रदेशतः नहीं बसा सकता। हमें तो परद्रव्योंका त्याग करना है। परद्रव्योंमें जो ममेदम् अहमिदम् संकल्प है उस संकल्पका त्याग किये बिना परद्रव्यका त्याग न होगा। अब रहा बाह्य त्याग तो इस ही सम्यक्त्वरूपी अग्निकणिकाके प्रसादसे वे सब चीजें छूट जायेंगी। सम्यग्दर्शनका अद्भुत माहात्म्य है। तीन कालमें भी सम्यक्त्वके समान श्रेयस्कर तत्त्व नहीं है और मिथ्यात्वके समान अश्रेयस्कर तत्त्व नहीं है। इस सम्यग्दृष्टि पुरुषके अन्दर नियत ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति है जिसके कारण अपनेको और परपदार्थोंको परस्पर विविक्त जानकर परसे अत्यन्त विराम लेता है और अपने आपके आत्मामें ठहरता है। ऐसी अद्भुत शक्ति वाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको जिनेश्वरका लघुनन्दन कहा है।

आत्मत्वका सामान्य भैया! आत्मा बुरा कोई नहीं होता। वह एक द्रव्य है, पर एक विभाव और मिथ्यात्व ही दुःखदायी चीज है। उसके सम्बन्धसे आत्मा बुरा कहलाता है। आत्मा तो सब एक समान ही हैं। कैसे आत्मद्रव्यको बुरा कहेंगे है? औपाधिक परिणतिसे लोगोंमें भेद पड़ गया है पर वस्तुतः समस्त आत्मा एक चैतन्य स्वरूप है। द्रव्यदृष्टिमें घुस कर निरखो तो सब जीवोंके प्रति स्वरूपमें भक्ति उत्पन्न होगी। क्योंकि इस द्रव्यदृष्टिने सब जीवोंको ज्ञायकस्वरूप दिखा दिया है। यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा भ्रम कर करके अपने आप दुःखी हो रहा है। आत्माका यह भ्रम छूटे तो इसमें सकट ही नहीं है। इसका तो आनन्दस्वरूप ही है। आनन्द पानेके लिए परकी अपेक्षाकी जरूरत नहीं है।

कठिन परिस्थितियोंसे छुटकारा पानेका सम्यग्दृष्टिका सामर्थ्य किन्तु भैया! एक यह भी बड़ा झंझट सामने आता है कि कल्याण चाहते हुए भी जैसे कि जुवारियोंके बीच जुबारी पहुँच जाय तो उसे उस गोष्ठीसे निकलना कठिन है। इसी प्रकार यह संसारकी गोष्ठी है, जहाँ कि लोग धनके अर्थ, संगति समागमके अर्थ, परिवारके अर्थ बस रहे हों, ऐसे लोकके बीच रहनेपर उस गोष्ठीसे निकल जाना कठिन हो जाता है, अर्थात् उपयोगमें ये बाह्य समागम न रहें, किन्तु ज्ञायकस्वरूप निज भगवान आत्मतत्त्व बसे तो ऐसी स्थिति बनना कठिन हो जाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुषमें ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि वह समस्त हेय तत्त्वोंको हेय समझकर ध्रुव अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका ग्रहण कर लेता है। इस ही निज वस्तुत्वको विशद ग्रहण करनेके लिए सम्यग्दृष्टिमें पुरुषार्थ है।

आत्मार्थीका सत्याग्रह व असहयोग जैसे गुलाम देशको आजाद करनेके लिए अहयोग और सत्याग्रह इन दो उपायोंको अपनाया गया था इसी प्रकार अनादिकालसे चला आया हुआ गुलाम यह जीव जब अपनी निधिकी खबर करता है तो अपनेको आजाद बनानेके लिए यह भी दो उपायोंका आलम्बन लेता है अहयोग और सत्याग्रह। इन ज्ञानी संतने समस्त परद्रव्योंका असहयोग

कर दिया है। वह किसी भी परद्रव्यका सहयोग नहीं चाहता। सबसे हटकर अपने आपमें बसे हुए इस ध्रुवस्वभावका आग्रह कर लिया है, यही ज्ञानीका सत्याग्रह है, अपने शुद्ध स्वरूपका ग्रहण करनेका आग्रह है और इस आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य सब परभाव हैं उनसे इसने असहयोग किया है। सत्याग्रह और असहयोग इन दोनों उपायोंको करके वह अपने कार्यमें सफल होता है। सम्यग्दृष्टिका यह एक ही प्रोग्राम है। वह इस प्रकारसे अपने सत्यका आग्रह करता है और असत्यका असहयोग करता है। और इस विधिसे वह सम्यग्दृष्टि जीव अनेक परपदार्थोंके बीच रहकर भी अनाकुल रहता है। उसके विह्वलता नहीं जागती है। ज्ञान और वैराग्यमें ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि ज्ञानबलका अधिकारी कहीं आकुलित नहीं हो सकता है। ज्ञान और वैराग्यके पानेके लिए हम सबका भरसक प्रयत्न होना चाहिए और जड़ वैभवोंको हेय समझना चाहिए। उस ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दृष्टि पुरुष स्व और परको सामान्यतया किस प्रकार जानता है? इसका वर्णन अब किया जा रहा है।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिओ जिणवरेहिं।

ण हु ते मज्झ सहावा जाणगभावो हु अहमिक्को ॥ १९८ ॥

आत्माका मौलिक लक्ष्य आनन्द—आत्माका लक्ष्य है कि आनन्द मिले, आत्माकी अन्य कुछ परिस्थिति हो जाय, उससे खेद नहीं होता है, आनन्दके घीसे खेद होता है, जैसे मान लो हाथीके शरीरमें पहुँच गए अथवा चींटीके शरीरमें पहुँच गए, बहुत बड़ा प्रदेश विस्तार हो गया, कहीं थोड़ा प्रदेश विस्तार हो गया तो अन्य कुछ भी गुजरे उन स्थितियोंसे आत्मा अपना अहित नहीं समझता। एक आनन्दमें बाधा आए तो वह इसे असह्य है। एक ही उद्देश्य है कि मुझे आनन्द मिले। भैया! वह आनन्द मिलता कैसे है? इन परपदार्थों में इन जड़ वैभवोंमें तो आनन्द नामक गुण ही नहीं है। उनसे किसी प्रकार आनन्द प्राप्त हो। वहाँसे आनन्द नहीं निकलता है, आनन्द नहीं आता है और जहाँ आनन्द नामक गुण है ऐसे जो ये अनेक जीव हैं उनका आनन्द गुण उन ही में परिणत होकर वहीं समाप्त हो जाता है। उन बाहरी पदार्थोंसे आनन्दका रंच भी प्रसार नहीं होता है। उनसे मुझे आनन्द कैसे मिल सकता है? फलतः किसी भी परपदार्थसे मेरेमें आनन्द नहीं आता है। जड़में तो आनन्द ही नहीं है। उनसे आनन्द आयगा कैसे? जिसके आनन्द है वह अपनेमें ही अपने ही आनन्दको परिणत करके अपनेमें अनुभूत कर लेता है। उनसे बाहर उनका आनन्द जरा भी निकलता नहीं है। फिर उनसे आनन्द कैसे मिले? फलतः किसी भी परपदार्थसे आनन्द नहीं मिलता है, किन्तु स्वयंमें ही आनन्द नामक गुण तन्मयतासे अनादि स्वतः सिद्ध है। उस आनन्द गुणसे ही आनन्द पर्याय व्यक्त हो सकती है।

आनन्दकी व्यक्तिकी ज्ञानपर निर्भरता—भैया! हमने अपनेमें आनन्द समझा नहीं और परवस्तुओंसे आनन्दकी आशा रखी है इस कारण हम आप आनन्दमय होकर भी आनन्दसे च्युत रहे। वह आनन्द किस प्रकार प्राप्त होता है, उसकी कुछ चर्चा यहाँकी जा रही है। यह आनन्दपरिणमन

ज्ञानकी दिशापर निर्भर है। हम ज्ञानको किस प्रकार बनाएँ कि आनन्द परिणमन बने और किस प्रकार बनायें कि सुख या दुःखरूप परिणमन बने। ज्ञानगुण आनन्दगुण यद्यपि २ गुण हैं, लक्षणभूत हैं, किन्तु इसका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् कैसा ज्ञान होनेपर आनन्दगुण किस प्रकार परिणमन करता है और कैसा ज्ञान होनेपर कैसा परिणमन करता है? यह बात तो कुछ अनुभवसिद्ध है। जब ज्ञान इस प्रकार परिणत होता है कि इसमें मुझे टोटा पड़ा, इतना नुकसान हुआ। उस रूपसे जब ज्ञान जानन परिणमन करता है तो अनाकुलता उत्पन्न होती है और जब यों परिणमता है कि टोटा पड़ गया तो क्या है, वह परचीज ही तो थी। न साथ लाये थे और न साथ जायेंगे। उससे तो यहाँ कुछ भी हानि नहीं होती है। जब इस प्रकारका ज्ञान बनता है तो उसके अनाकुलता रहती है। ज्ञान और आनन्द परस्परमें अविनाभावी हैं। तो इससे भी और अधिक चलकर देखें। हम अपने आपको तो पहिचान सकें कि मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसे शुद्ध सहज स्वभावकी मुझमें दृष्टि आ सके तो यह आनन्दगुण शुद्धरूप से परिणम सकता है।

व्यवहारनयके कथनमार्गसे परमस्वभावमें पहुँचनेका यत्न—सहज स्वभाव को उपयोग में सुरक्षित रखनेके लिए यह उद्देश्यरूप गाथा कही जा रही है। इस गाथाका अर्थ है, नान प्रकारका जो उदय विपाक है, उसे जिनवरोंने कर्मों को बताया है, वह मेरा स्वभाव नहीं है, किन्तु यह मैं एक ज्ञानस्वभावमात्र हूँ। उत्थानिकामें यह कहा गया है कि स्व और परमें सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार जानता है। यहाँ स्वकी तो चर्चा की है, परकी चर्चा नहीं की गई है। बतला रहे हैं कि रागद्वेष मोह भावको कि ये कर्मोंके हैं ऐसा जिनेन्द्रने बतलाया है। देखिए उद्देश्य जब विशुद्ध होता है तो किसी भी चर्चा में इस अपने उद्देश्यपर पहुँचता है। हमारा उद्देश्य है कि अपनी दृष्टिसे अपनेको यथार्थ और शुद्ध निरखें। ऐसा देखनेके लिए जहाँ निश्चयनयकी पद्धति हमें बहुत काम देती है यह मैं हूँ, जैसा भी कुछ देखूँ, अन्य किसीका मेल न मिलाऊँ। केवल एक निजको ही देखें, निजकी ही शुद्ध परिणति देखें, शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखें तो वह हो गया शुद्ध निश्चयनय और पर्यायकी दृष्टि न करके केवल एक स्वभावमात्रको देखें तो वह हो गया परमशुद्ध निश्चयनय। तो जिस स्वभाव को ग्रहण करनेके लिए हमारे शुद्ध निश्चयनयकी पद्धति हमको बहुत कार्यकर होती है। यह मैं ही स्वभावको निरखनेके लिए व्यवहार पद्धतिसे चलकर स्वभावकी ओर पहुँचने की कोशिश की है।

गाथामें विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनयके उपयोगकी झलक—भैया! एक नय होता है विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय। इसमें जिससे रुचि है उसे तो शुद्धरूप में देखा जा रहा है और जो हेय है, जिसकी रुचि नहीं है उसको अन्यत्र गिराकर देखा जाता है। विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनयमें यह दृष्टि है। जैसे मानो एक प्रश्न हो कि बतलावो रागादिक भाव किसके हैं? रागादिक भाव आत्मीय हैं या पौद्गलिक हैं? तो अशुद्ध निश्चयनयका उत्तर है कि रागादिक भाव आत्मीय हैं। विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयसे रागादिक पौद्गलिक हैं। परमशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक हैं ही नहीं। जैसे एक दर्पण सामने है, उसमें जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह नीचे खड़े हुए

बहुतसे पत्थरोंका निमित्त मात्र पाकर वह द्रव्य छायारूप परिणत होता रहता है। इस घटनासे हम यों भी जान सकते हैं कि देखो अमुक पदार्थकी सन्निधिका निमित्त पाकर यह छायारूप परिणति होती है। हम इसको यों भी देख सकते हैं कि देखो दर्पणमें इस इस रूप परिणमन हो रहा है। क्या हम यों नहीं देख सकते हैं? यह दर्पण ऐसा परिणमता है। हम न देखें उस उपाधिको, किन्तु वर्तमानमें दर्पण जिस प्रकार परिणत हो रहा है। उस प्रकार दर्पणको देखें तो मुझे कौन रोक सकता है? यही है अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि।

अशुद्ध निश्चयदृष्टिका प्रभाव—अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें क्या प्रभाव है? चूँकि किसी परपदार्थको इसने दृष्टिमें नहीं लिया, अतः रागका अंकुर अथवा वर्द्धन वर्तन अब आगे न होने पायगा। इसका कारण यह है कि राग होता है तो किसी परवस्तुको विकल्प में डालता हुआ होता है। जब परकी अपेक्षा न रखे, केवल वस्तु जिस प्रकार है उसही प्रकार देखनेमें लग रहा है तो परवस्तुवोंको उपयोगमें न लिया, परका आलम्बन न किया तो यह रागभाव स्वयं ही अपना स्थान नहीं रख सकता है। परका विकल्परूप आलम्बन लिए बिना विकार भाव उत्पन्न नहीं होता है। अशुद्ध निश्चयदृष्टिसे परका आलम्बन ही नहीं लिया गया तो यह समाप्त हो जाता है और समाप्त क्या हो जाता है, इस रागभाव की दृष्टिभी ओझल होकर परमशुद्ध निश्चयनयके विषयमें पहुँच जाती है, यह है अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिका प्रभाव।

शुद्ध निश्चयनयदृष्टिका प्रताप—भैया अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिमें तो थोड़ी कठिनाई पड़ती है अपने उद्देश्यमें पहुँचने के लिए। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें कुछ सरलता है। जहाँ पर अशुद्ध पर्यायको निरखा जा रहा था, अब इस दृष्टिमें शुद्ध पर्याय परिणत द्रव्यको देखा जा रहा है। पहिले तो अपने रागभावको देख कर रागसे उतरकर स्वभावमें पहुँचने का यत्न था। अब शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें शुद्ध पर्यायको निरखकर पर्यायको गौण कर हम स्वभावमें पहुँचना चाहते हैं। यह बात होना सुगम है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका जैसा स्वभाव है उस रूप परिणमन होता है। तो उस परिणमनको लक्ष्यमें लेकर परिणमनको गौण कर स्वभावमें जरा जल्दी मेल पा सकते हैं कि और परमशुद्ध निश्चयदृष्टिमें अपने उद्देश्यमें ले जानेमें तत्काल समर्थ होता रहता है। यहाँ तो विलम्बकी भी बात नहीं है। स्वभाव निरखो यही परम शुद्ध निश्चयनयका काम है।

विविधित एकदेश शुद्ध निश्चयनयका प्रयोग—अब प्रकरणमें विविधित एक देश शुद्ध निश्चयनयको देखिये जिसको शुद्ध रखनेकी विवक्षा है उसे तो हम शुद्ध रखते हैं और जिसमें रुचि नहीं है, जो अनात्मीय है, पर भाव है उसे उपेक्षित करते हैं। ऐसी पद्धतिमें ऐसे आशय में यह उत्तर मिलता है कि राग पौद्गलिक है। हमारा कहनेका उद्देश्य यह है कि राग मेरे नहीं है। मैं तो शुद्ध टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध ज्ञायकस्वभाव हूँ। इस रूपसे यहाँ देखा जा रहा है कि हम रागके विषयमें अपनेमें कुछ लपेटा-लपेटी न करें, सीधा बाले दें, चूँकि पुद्गल कर्मके उदय होनेप यह होता है और उदय न होनेपर यह नहीं होता है, इसलिए राग पौद्गलिक है।

प्रकरणके अनुसार दृष्टिका पूर्ण प्रयोग भैया! अन्य द्रव्य होकर भी जो थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रखता था, कर्मोंके साथ निमित्तनैमित्तिक रूप उसे और ढकेलकर और एकदम उसमें ही प्रतिष्ठित कर दें; अर्थात् रागको अत्यन्त हेय कर दें, यह इस दृष्टिकी देन है और इस दृष्टिमें वह अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको सुरक्षित बना लेता है, जब जिस दृष्टिमें जो देखा जा रहा है उसमें ही दृष्टि देकर निरखें। जहाँ जो प्रकरण जैसा आवे उस प्रकरणके माफिक हम उसको देख लें। जिसकी दृष्टि देनेमें राग है ही नहीं वह है परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि। एक दृष्टिमें राग पौद्गलिक है यह है व्यवहारदृष्टि और अपने आपको शुद्ध रखनेके उद्देश्यसे कहा जा रहा है तो यह है विविक्षत एकदेश शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि। राग आत्मा में है, यह है अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि।

सिद्धहस्तकी लीला किसी कार्यमें कुशल पुरुष जो कि अत्यन्त अभ्यस्त है, जैसे वह उस कार्यको किसी भी प्रकार स्थित होकर व्याप्त होकर वह अपनी कुशलतासे उस कार्यको कर लेता है। जैसे कोई खेलमें बड़ा अभ्यस्त है तो नाना लीलावोंके साथ अपने उस खेल को सम्पन्न करता है। जो चित्र बनानेमें बहुत अभ्यस्त है वह क्षणमात्रमें ही हँसते-खेलते, बोलते-चालते जैसा मनचाहे चित्र बना देता है। वह ऐसी सावधानी नहीं रखता है जैसीकि एक अनाड़ी लिखने वाला करता है। वह व्यक्ति उस कार्यमें प्रवीण हो जाता है, सफल हो जाता है। इसी प्रकार टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ध्रुव स्वतःसिद्ध सनातन इस ज्ञायकस्वभावका जिन्हें परिचय होता है ऐसे पुरुष किसी भी नयके वर्णनसे प्रयोजन शुद्ध तत्त्वके निहारनेका निकालते ही हैं। इस स्वभावके ग्रहण करनेका अभ्यस्त ज्ञानी संत व्यवहारदृष्टिसे भी कुछ कहा जा रहा हो, बोला जा रहा हो तो वहाँ पर भी उनके अर्थ निकालनेकी शैली होती है स्वभावके ग्रहण करनेकी ही।

टंकोत्कीर्णका भाव यहाँ कह रहे हैं कि जो कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। यह मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध ज्ञायक भाव स्वभावी हूँ। टंकोत्कीर्णवत् का क्या अर्थ है? इसमें दो भाव हैं। एक तो टांकीसे उकेरी हुई प्रतिमा जैसी निश्चल रहती है, हाथ-पैर नहीं मुड़ सकते हैं, अखण्ड अभंग निश्चल ही रहती है, समस्त उलट जाय पर उसके खण्ड होकर कोई हाथ पैर मुड़ जाय ऐसी बात नहीं हुआ करती। जैसे टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा निश्चल होती है इसी प्रकार यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने स्वरूपमें निश्चल रहता है।

टंकोत्कीर्णवत्का दूसरा भाव टंकोत्कीर्णवत्का दूसरा भाव यह है कि जैसे मूर्तिको कारीगर नहीं बनाता है, किन्तु उस मूर्तिको जिस कारीगर ने बनाया है उसने मूर्ति बनाये जाने वाले पत्थरके भीतर यह जान लिया कि इसमें यह मूर्ति है। तो उस मूर्ति को बनानेके यत्नमें केवल उस मूर्तिके आवरक पत्थरोंको हटाया है। उस मूर्तिमें कोई नई चीज लाकर नहीं उत्पन्न किया। इसी प्रकार इस सम्यग्दृष्टि जीवने अपने आपके इस ज्ञायकस्वभावको जाना है, निरखा है, वह इस परमात्मत्वको कुछ नई चीज लगाकर प्रकट नहीं किया करता है, किन्तु इस परमात्मत्वके आवरक जो विषय कषायोंके परिणाम हैं उनको प्रज्ञाके छेनीसे, प्रज्ञाकी हथौड़ीसे और प्रज्ञाके ही उपयोगसे यह जीव सर्व

आवरकोंको हटा देता है। तो जो था वह व्यक्तरूप प्रकट हो जाता है। ऐसा टंकोत्कीर्णवत् प्रकट होने वाला यह ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्व है। यह मैं ज्ञायकस्वभावरूप हूँ किन्तु किसी भी रागादिक विकार रूप नहीं हूँ। ऐसी भावना इस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें होती है। यों स्वपरका सामान्यरूपसे विवेचन किया है। अब उस ही स्व और परको विशेष पद्धतियोंमें सम्यग्दृष्टि किस प्रकार जानता है, इसका वर्णन करते हैं।

पुद्गलकम्मं रागो तस्स विवागोहयो हवदि एसो।

ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥ १९९ ॥

कर्मका संक्षिप्त परिचय—रागनामक पुद्गल कर्म है। पुद्गलको कर्म कहना चाहिए या विभावोंको कर्म कहना चाहिए? कर्म शब्द जीवके रागादिक विकारोंमें भी लगाया जाता है और कर्म नाम पौद्गलिक इन कार्माणवर्गणावोंमें भी लगाया जाता है। तो किसीका तो असलमें कर्म नाम होगा और किसीका उपचारसे कर्म नाम होगा। कर्म शब्दकी व्युत्पत्ति करके सोच तो पुद्गलका कर्म नहीं हो सकता। तब इन दोनोंमें असलमें कर्म नाम है किसका? जीवके रागादिक विभावका। कर्मका अर्थ है क्रियते इति कर्म। जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। प्रथम तो दुनियामें की जाने वाली बात कोई नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ करता है यह तो त्रिकाल असम्भव है और खुद-खुदका कर्ता है, यह मत वाणी जैसी बात है। खुद खुदको करता है तो वह खुद कौन है जो करने वाला है। और वह खुद कौन है जो किया जा रहा है। जब वह स्वयं एक है तो एक एकको करे क्या? इसलिए जो करनेकी धातु है वह व्यवहारके लिए प्रयुक्त है। निश्चय भाषामें 'करने' शब्दका नाम कहीं आना ही न चाहिए। कोई कुछ करता है या नहीं करता है, इसके निर्णयकी बात उपस्थित करना तो दूर रहो पर 'करना' शब्द ही नहीं बोला जा सकता है। लोकव्यवहारके नाते 'करना' शब्द बोल दें तो करने शब्दकी शोभा चेतनके विभावके साथ हो सकती है पर अचेतनके साथ नहीं होती है।

चेतनके लिये करनेका व्यवहार—लोकव्यवहारमें अचेतनके लिए करनेका नाम नहीं लगाया जाता है और लगाया जाता है तो किसी दूसरी धातुका भाव लेकर। करनेका नाम चेतनके साथ जोड़ा जाता है। जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। चेतनके द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है। चेतनके द्वारा किय जाते हैं ये रागादिक विकार इसलिए उनका नामतो सीधा कर्म है और इन कर्मोंका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें जो कर्मत्व अवस्था हुई इस कारण उसको कर्म उपचारसे कहा जाता है। उपचार ही सही पर परिणति दोनों जगह होती है, जीवमें जीवकी शक्तिसे होती है, कर्मोंमें कर्मोंकी शक्तिसे होती है। फिर भी कर्म दोनोंका नाम है।

रागकी कार्यकारणता—राग नामका एक पुद्गल कर्म है, उसके फलमें उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है वह मेरा स्वभाव नहीं है। यह रागरूप भाव कहाँ होता है? आत्मा की एक परिणतिमें

होता है। पर यह विभाव किसी अन्यको निमित्तमात्र किए बिना स्वयं स्वरसतः होता है तो यह राग स्वभाव कहलायेगा, विभाव नहीं हो सकता। इस रागके उत्पन्न होनेकी शैली ही यह है कि वह उदयागत कर्मोंका निमित्त पाकर स्वयं अपने परिणामोंसे रागरूप परिणम जाता है। वह उदयागत कर्म कैसे इस जीवमें बँधा? उस बँधन के मर्मभूत कारणपर इस समय दृष्टि दें। जो नवीन कर्म आस्रुत होते हैं याने आस्रवको प्राप्त होते हैं उसका कारण है उदयागत पुद्गलकर्म, न कि जीव विभाव। और उदयागत पुद्गल कर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्तपना बन जाय इसका निमित्त है जीवका विभाव।

व्यक्त अर्थमें गर्भित अव्यक्त भाव—भैया! सुगम भाषामें प्रत्येक जगह यह वर्णन आया है कि जीवके विभावोंका निमित्त पाकर नवीन कर्म आते हैं। इसका सीधा यह अर्थ नहीं है पर जो सही अर्थ है उस अर्थमें इसका विरोध नहीं। उद्देश्य एक है। इस कारण ऐसा बोल देना गलत भी नहीं है। बात वहाँ यह होती है कि नवीन कर्मोंका आस्रवण तो होता है उदयागत पुद्गलकर्मोंके निमित्तसे और उदयागत पुद्गलकर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवणका निमित्तपना आ जाय इसका निमित्त होता है जीवका विभाव। तो यह जीवका विभाव कैसा विलक्षण भाव है कि उदयागत कर्मोंका निमित्त पाकर जीवविभाव होता है, और जीवविभावका निमित्त पाकर उदयागत पुद्गलकर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवणका निमित्तपना आता है।

रागकी औपाधिकता—बद्ध हुए कर्म कषायके अनुसार उन कर्मोंमें स्थित भी हो गए। अब उसका आया समय उदय या उदीरणाका पहिले उन बद्ध कर्मोंके बँधनेका टाइम निर्णीत हो गया था। समय पर खिरे उसका नाम उदय है। उदय कहो या निकलना कहो एक ही बात है। सूर्यका उदय हो या सूर्यका निकलना हो दोनोंमें अन्तर नहीं है। जब वे बद्ध कर्म आत्मासे निकलनेको होते हैं तब उनकी स्थिति ऐसी विचित्र होती है कि उन निकलने वाले कर्मोंका निमित्त मात्र पाकर यह जीव स्वयं रागादिक विकारोंसे परिणम जाता है। ये रागादिक विकार औपाधिक भाव हैं, यह मेरा स्वभाव नहीं है।

ज्ञानीके स्वभावस्पर्शका उत्साह—आत्माके सहज स्वरूपका परिचय करने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी संत किसी भी नयका प्रयोग और व्यवहार इस ढंगस करता है कि स्वभाव को छू लिया जाय। उसका उद्देश्य एक स्वभावका आश्रय करना है। और वह किसी भी नये मार्गसे चलकर अपने उद्देश्यकी ही पूर्तिमें लगा रहता है। यह निश्चयनयके विपरीत बात बोली जा रही है कि रागादिक विकार पौद्गलिक हैं, औपाधिक हैं ऐसा कहनेमें यह ज्ञानी पुरुष अपने स्वभाव स्पर्शके लिए एक मार्ग पाता है। ओह वे पौद्गलिक हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो यह टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वरूप हूँ। इसी प्रकार जैसे राग के सम्बन्धमें बात कही, द्वेषके सम्बन्धमें भी वैसी ही बात है। वह द्वेष नामक पुद्गल प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर होने वाला भाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें भी यही बात समझना है।

विविक्ता भावोंसे विविक्ता भैया! ये विभाव आत्माके परिणमन हैं, किन्तु औपाधिक हैं, स्वरसतः उत्पन्न होने वाले नहीं हैं। उनको पर बताकर परसेक विविक्त स्वका ज्ञान कराया गया है। इसी प्रकारसे प्रत्येक द्रव्य ऐसा है कि जिसका आत्मासे कुछ अधिक सम्बन्ध है और उस सम्बन्धके कारण और उसमें आगे बढ़कर मोही जीव मुग्ध होता है, उन्हें अपना मानता है और अपनेमें कर्मोंका बंध कर लता है। उन परद्रव्योंको भी इसी तरह जानो कि ये कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, घ्राण, चक्षु, प्राण, रसना और स्पर्शन ये सब भी पर हैं। मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो यह टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ।

बाह्य हेतुओंका द्वेविध्य भैया! बाह्य हेतुओंमें दो प्रकारके हेतु हैं, एक निमित्तभूत और एक आश्रयभूत। जीवके विभावमें निमित्तभूत हेतु तो पौद्गलिक कर्म हैं और आश्रयभूत कारण हैं, कर्मोंके अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ जिनको उपयोगमें लेकर, जिनको ज्ञेय बनाकर, जिनका आश्रय कर, विचार कर, ख्याल कर हम रागादिक भावोंकी दृष्टि करते हैं वह कहलाता है आश्रयभूत। तो निमित्तभूत और आश्रयभूत ये दो प्रकारके हेतु हैं। इनमें निमित्तभूत कारणका तो निमित्तनैमित्तिक भावोंकी विधिमें घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है और इसी कारण आश्रयभूत पदार्थोंका कार्यमें अविनाभाव नहीं बनता है।

एक आश्रय होनेपर भी एक जातिके भावका अभाव विक्ता जन एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि कोई वेश्या मरी, उसे देखकर कामी पुरुषके यह भाग जगा कि यह जीवित रहती तो और दो चार दिन मिलते। साधुके यह भाव रहता है कि इसने दुर्लभ नर पर्याय पाकर व्यर्थ ही इस भवको गंवा दिया। तो कुत्ते-स्यालोंका यह भाव हुआ कि इसे यों ही छोड़ दिया जाय तो हम पशुओंका कई दिनोंका भोजन हो जायगा। वह परआश्रयभूत पदार्थ है, इसलिए भिन्न-भिन्न लोगोंने अपने भिन्न भाव बना लिए। कोई तो सुन्दर वस्तुको देखकर राग करता है और कोई नहीं भी राग करता है तो यह नियम भी नहीं घटित होता है कि अमुक संयोग मिले तो इसके ऐसा कषायभाव जगे ही, ऐसा नियम नहीं है। यह तो आश्रय लेने वालेकी योग्यतापर निर्भर है, किन्तु निमित्तभूत कारण जो कर्मोदय है उसमें कर्मोदयके आश्रयभूत पदार्थोंके कारण कारणता नहीं है। मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयमें जीवमें मिथ्यात्व भाव होता है, अन्य प्रकारका भाव नहीं होता है। राग नामक प्रकृतिके होनेपर जीवमें राग नामक भाव होता है। वह सब विभाव पुद्गलकर्मके विपाकसे प्रभूत हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न हो जाता है।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।

उदयं कम्मविवागं य मुयदि तच्चं वियाणंतो ॥ २०० ॥

विकारके त्यागका मूल यथार्थज्ञान इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायकस्वभावी मानता है और यथार्थ तत्त्वको जानता हुआ उदयको अथवा कर्मविपाकको छोड़ देता है। अथवा ऐसा

जान रहा है कि यह उदय मेरा स्वरूप नहीं है। यह तो कर्मोंका विपाक है। ऐसा समझकर विकार का त्याग कर देता है। इससे पहिले सामान्य रूपसे और विशेषरूपसे यह बताया है कि रागभाव मेरा स्वरूप नहीं है। इस अज्ञानी जीवको सबसे अधिक किस बातका मोह है इसका विचार करें। कोई कहेगा कि सबसे अधिक मोह घर, धन वैभवका है, किन्तु घर और धन-वैभवका सबसे अधिक मोह नहीं है। उससे भी अधिक मोह परिवारमें है। मोही जीवकी कहानी बता रहे हैं। और परिवारमें भी सबसे अधिक मोह नहीं है; किन्तु अपने शरीरमें है। अपने शरीरपर कोई आफत आए और घरके लोगों पर कोई आफत आए, जैसे मान लो जान जानेका सवाल है सबका तो यह जीव अपनी जान बचायेगा। परिवारकी जान जानेकी उपेक्षा कर देगा। तब सबसे अधिक मोह हुआ अपने शरीरका, प्राणोंका, किन्तु शरीर और प्राणोंसे भी अधिक मोह होता है अपनी बात का। लोग बातके पीछे अपनी आत्महत्या तक भी कर डालते हैं। दोनोंमें झगड़ा, हठ, विवाद बात ही बातका है। बात माने रागद्वेषमोह विकार। सबसे अधिक मोह होता है रागादिक विकारोंमें।

तत्त्वज्ञानका फल—जिसने रागादिक विकारोंसे न्यारा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको जाना है ऐसा पुरुष कर्मोंका शिकार नहीं होता। उसकी तो प्रतिसमय निर्जरा होती रहती है। इस सम्यग्दृष्टि जीवने परस्वभावरूप जो भाव है अर्थात् विकार भाव, कर्मोंके उदयके निमित्त होने वाले जीवके विरुद्ध परिणमन उन सबसे अपनेको पृथक् करके टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायक स्वभावरूप आत्माके तत्त्वको जान लिया है। सो जब यह सम्यग्दृष्टि जीव केवल तत्त्वको जान रहा है तो जाननेका फल तो यह है कि जो पर हो, परभाव हो, पराया हो, अहित हो, असार हो, न्यारा हो तो उससे मुख मोड़ लेवे और जो अपना हो, हित हो, सार हो, सुखद हो उसको ग्रहण कर लेवे। सो यह सम्यग्दृष्टि जीव इन सब परपदार्थोंको और रागादिक परभावोंको तो त्याग देता है और निजस्वभावका उपादान करता है याने ग्रहण करता है। इस प्रकार स्वके ग्रहण करनेसे और परके त्याग करनेसे निष्पन्न होने वाला जो निज आत्माका वस्तुत्व है उसकी अपने उपयोगमें सिद्धि करता है और कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको त्याग देता है। इस कारण यह ज्ञानी पुरुष नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है।

ज्ञानीकी होड़में अज्ञानीकी फिसाड़—ऐसी सम्यग्दृष्टिकी विभूतिको सुनकर सम्यग्दर्शनके महात्म्यको समझकर कोई यह कहने लगे कुछ थोड़ा-सा सुन लेनेके कारण कि यह मैं तो स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरा कभी भी बँध नहीं होता है। इस प्रकार उठाया है और फुलाया है मुखको जिसने, मुखकी मुद्रा जिसने विचित्र बनायी है ऐसा पुरुष, जो अटपट आचरण करे तो करे अथवा ऐसा मोही रागी पुरुष किसी कारणसे धर्मकी धुन भी रखा करे, महाव्रत भी पाले, समितिमें सावधान रहे, बड़ा ऊँचा तप किया करे तो भी यदि उसके आत्मा और अनात्माका ज्ञान नहीं है तो वह पापमय है, सम्यक्त्वसे रीता है। यह अंतरंग की बात कही जा रही है। भैया! कर्म शरीरकी चेष्टा देखकर नहीं बँधते हैं, नहीं छूटते हैं; किन्तु आत्मीय योगको उपयोगका निमित्त पाकर बँधते हैं और छूटते हैं।

बाह्य तपका क्लेश व अन्तरमें अज्ञान—यदि कोई पुरुष धर्मोपदेशसे जैसा कि उसने समझ रखा है मुनि भी हो जाय, महाव्रत और समिति भी पाले, बड़ा दुर्धर तप करे, किन्तु अन्तरमें यदि ज्ञायकस्वरूप भगवानका अनुभव न हो, जिस अनुभवके कारण रागादिक विकार और समस्त पदार्थ अत्यन्त भिन्न और हेय जाने जाते हैं ऐसा सम्यग्ज्ञान न हो तो वह अब भी पापमय है। मिथ्यात्वसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। जहाँ विपरीत आशय है, स्वयंके स्वरूपका कुछ भी परिचय नहीं है, बाह्य अर्थोपर अत्यन्त झुकाव है, सर्व कुछ बाह्य जगत ही वह अपना सर्वस्व माने हुए हैं, ऐसा पुरुष अन्तरमें पापस्वरूप है।

स्वरूपपरिचयके बिना सर्वत्र अन्धता—श्रावक जन भी गृहस्थके योग्य धर्म कार्य करके भी पूजन, भक्ति, स्वाध्याय, गुरु उपासना आदि अनेक कार्य करके भी यदि अन्तरमें अपने स्वरूपका पता नहीं पड़ सकता है, ज्ञानमात्र शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं किया है तो वह अन्तरमें अब भी अंधा है, पापमय है। मोक्षमार्ग न मिलेगा। इस कारण यदि सुगति चाहिए, शांति चाहिए, कल्याण चाहिए तो सर्व प्रयत्न करके इस मोहको त्यागो। मोहके त्यागे बिना न शांति मिलेगी, न कर्म झगड़ेंगे। और पाया हुआ दुर्लभ मनुष्य जीवन बेकार चला जायगा। भैया! मोह करना बिल्कुल व्यर्थकी बात है। जगतमें अनन्ते जीव हैं। कोई जीव किसीका कुटुम्बी सदा साथी नहीं होता, फिर आज दो चार जीवोंमें ही अपनी ममता डालकर क्या यह अंधकार नहीं बना रहे हैं और जिसमें ममता डाले हुए हो वे अब भी तो अत्यन्त जुदा हैं। उनका तुममें अत्यन्ताभाव है। न उनसे कुछ आपमें आता है और न आपका कुछ उनमें जाता है। ऐसी व्यर्थकी ममता ही हमारे सर्व कल्याणमें बाधक है। सर्व प्रथम कर्तव्य तो यह है कि मोह छूटे, समस्त बाह्य पदार्थोंसे मोह हटाना है, धन सम्पत्तिसे मोह दूर हटाना है, घर महलोंसे मोह हटाना है, परिवार जनोंसे मोह हटाना है, शरीरसे मोह हटाना है, अपनी बात अपने रागसे मोह हटाना है और केवल शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव करना है।

इस गाथामें सत्यथके लिये सावधानी दी है कि स्वका अनुभव जगे बिना, सम्यक्त्व पाये बिना यह जीव बाह्य में दुर्धर धर्मके नामपर, तपके नामपर काय क्लेश भी कर करके विपरीत आशयके कारण अन्तरमें अब भी पापमय है। इस कारण भव्यजनों! सर्व यत्नसे आत्मानुभवकी प्राप्ति करो। अब इसके बाद यह कथन करते हैं कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है?

परमाणुमित्तयं पि हु रायादिणं तु विज्जदे जस्स।

णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सब्वागमधरोवि ॥ २०१ ॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।

कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ ॥

रागकी अपनायतमें सम्यग्दृष्टितत्त्वका अभाव—जिस जीवके परमाणुमात्र भी राग है, रागादिक विकारका अंश मात्र भी है, वह समस्त आगमोंका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता

है। यहाँ किस रागका निषेध किया जा रहा है? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रंगी है अर्थात् जो रागकी कणिका मात्रको भी आत्माका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपका परिचय नहीं पाते हैं, ऐसे जीव जितने सर्व आगमको द्रव्यलिङ्गी मुनि भी ज्ञात कर सकते हैं इतने सब आगम धारण करके भी वे आत्माको नहीं जानते हैं। और जब अपने आपके स्वरूपको नहीं जानते हैं तो अनात्माको भी वे नहीं जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है अर्थात् जीव और अजीवको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

वस्तुस्वरूप जाने बिना लौकिक यथार्थज्ञानकी भी परमार्थतः असमीचीनता—इस टीकामें पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि कहते हैं कि जिस जीवके रागादिक अज्ञानमय भावोंका लेश भी सद्भाव है, वह श्रतुकेवलीकी तरह भी हो तो भी ज्ञानभावका अभाव होनेसे वह आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता है वह अनात्माको भी नहीं जानता है। यथार्थतया उसे किसीका बोध नहीं है। एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्य पदार्थोंको, जैसे कि हो तो रस्सी और जान ले साँप कुछ अंधेरे उजेलमें तो उसे सम्यग्ज्ञानसे रहित नहीं कहा जायगा। और एक मिथ्यादृष्टि पुरुष खम्भेको खम्भा जान रहा, चौकीको चौकी जान रहा, जो कुछ सामने आता है वह ठीक ठीक जान रहा है, और व्यवहारके अनुकूल भी जाने तो भी वह सम्यग्ज्ञानी नहीं हो पाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष पद्गलोंको पुद्गलोंकी जातिमें कुछ भी हो जाय किन्तु उसे द्रव्य गुण पर्यायके सम्बन्धमें रंच भी शंका नहीं है। कारणविपर्यास स्वरूपविपर्यास व भेदाभेदविपर्यास उसके उपयोगमें नहीं समा पाते हैं।

दृश्यमान पदार्थमें सम्यग्दृष्टिका बोध—ज्ञानीने जान भी लिया कि यह साँप है, किन्तु वस्तुस्वरूपमें भ्रम नहीं है। ये सब जो मूर्तिक नजर आते हैं वे पुद्गल पिण्ड हैं, अनन्त परमाणुओंके पिण्ड हैं, अनन्त परमाणुओंकी ये व्यञ्जन पर्यायें हैं और साँप हैं तो क्या, अन्य कुछ है तो क्या है तो वह दृश्यमान एक व्यञ्जन पर्याय जीव है तो उसमें जो गुण हैं उन गुणोंका वहाँ विकृत परिणमन है, सर्व कुछ सम्यक् ज्ञान है मगर उनके प्रति विपर्यासपन नहीं आ पाता है ऐसा शुद्ध बोध है।

वस्तुके प्रायोजनिक ज्ञानसे ज्ञानित्वपर दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष ज्ञानी संतसे कह कि चलो जी मैसूर चलेंगे, वहाँ कृष्णासागर बड़ा अच्छा बना हुआ है, वहाँ अमुक अजायब घर ठीक है अथवा आगराका ताजमहल और लाल किला प्रसिद्ध है चलो दिखा दें, तो वह कहता है कि मैंने सब कुछ देख लिया। अरे तुमने तो देखा नहीं और कहते हो कि देख लिया। हाँ देख लिया। वहाँ पुद्गल पिण्ड है, रूप, रस, गंध, स्पर्शमय है, वे सब पर है, उनमें-मुझमें कोई बात नहीं आती है, भिन्न वस्तु हैं, उनसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। वे अप्रयोजनीय हैं। इतनी ही तो बात है उनमें। सो वह कहता है कि हम देखने नहीं जायेंगे, जो कुछ देखना था देख चुके। इसी प्रकार स्वको रूपसे और स्वातिरिक्त समस्त विश्वको, पदार्थोंको अनात्मारूपसे जिनसे जान लिया, यही प्रायोजनिक ज्ञान है। जिसने जान लिया है उसको तो सन्तोष है कि मैं सबको जानता हूँ।

आतमत्व व अनात्मत्वके ज्ञान बिना सदृष्टित्व असंभव—श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धान्त चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें जो मंगलाचरण किया उसमें प्रथम ही कहते हैं कि “जीवजीवद्वय”। जीव और अजीवको जिसने निर्दिष्ट किया, शुरूसे ही “मुत्तममुत्त” नहीं कहा, मूर्तिक-अमूर्तिकमें भी सब द्रव्य आ जाते हैं तो भी ऐसा न कहकर जीव अजीवका मर्म यह है कि अजीवसे हटना और जीवमें आना। जो प्रयोजन होता है उसके ही माफिक पुरुष प्रारम्भमें ही वचन निकालता है। जिसने आत्माको और अनात्माको नहीं जाना तो समस्त मोक्षमार्ग के आधारभूत तो यही भेदविज्ञान है। आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वको ही न जाना तो आगे बतायेंगे कि वह सम्यग्दृष्टि कैसे होगा? यह आत्मा है यह अनात्मा है ऐसा भेदपूर्वक ज्ञान तब होता है जब स्वरूपकी सत्ता और पररूपकी असत्ताके माध्यमसे एक वस्तुका निश्चय किया जाता हो।

अनेकान्तकी अनिवार्यता—भैया! अनेकांत टाले भी नहीं टाला जा सकता। जो अनेकांतको मना करता है वह अनेकांतके प्रयोगसे ही जबरदस्ती हठपूर्वक अनेकांतको मना करता है। कोई भी वस्तु हो या कोईसा भी सिद्धान्त स्थापित किया जाय वह सिद्धान्त है ऐसा कहनेमें ही यह बात आपतित होती है कि इससे भिन्न अन्य कुछ सिद्धान्त नहीं है। इससे भिन्न सिद्धान्त भी हो तो यह सिद्धान्त यहाँ नहीं ठहर सकता। किसी भी पदार्थको सिद्ध करनेमें उसके अन्य पदार्थोंका नास्तित्व तो आ ही जाता है। इस तरह प्रारम्भमें ही अस्तित्वकी स्थितिमें अनेकान्त बसा हुआ है।

रागाद्यके सम्यग्दृष्टित्वका अभाव—अपने आत्माके ज्ञानस्वरूपकी सत्ताका निर्णय हो और समस्त परकी व परभावकी आत्मामें असत्ता है ऐसा निर्णय हो तो आत्मा और अनात्माका सही परिज्ञान कहा जा सकता है। जो आत्मा अनात्मा को नहीं जानता है, जो रागादिक परभावोंको आत्मस्वरूप मानता है वह जीव और अजीवको भी नहीं जानता। वह तो रागरूप अजीवतत्त्वमें आत्मत्वकी प्रतीति रखता है। यद्यपि आत्माको जीव और अनात्मा को अजीव कहते हैं तो भी यह पुनरुक्त नहीं होता। यहाँ आत्मा माना निजको और अनात्मा माना अनिजको। जो आत्मा अनात्माको नहीं जानता उसे द्रव्य, गुण, पर्याय पिण्डरूप जीव को और जीवके द्रव्य गुण पर्यायके पिण्डरूप अजीवको नहीं जाना। और जो जीव अजीव को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं होता है। इस कारण रागी पुरुषके ज्ञानका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि नहीं होता है।

असंयतों व देशसंयतोंके निरास्रवत्वकी जिज्ञासा व प्रथम समाधान—यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि चौथे और पांचवें गुणस्थान वाले तीर्थकर अथवा जो राजा राजकुमार, भरत आदि चक्रवर्ती, राम, पांडव आदि महापुरुष वे सब अपने जीवनमें बहुतसा राग करते थे, घरमें रहते थे, राज्य चलाते थे तो क्या वे सम्यग्दृष्टि न थे? यहाँ तो कहा जा रहा है कि जो रागका अंश भी रखता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। भैया! उत्तर इसके कई आयेंगे, जिसमें प्रथम उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा इस सम्यग्दृष्टिकी निरास्रव है तो यह ४३ प्रकृतियोंका बँध नहीं कर रहा है जिसमें दो तो बँधके अयोग्य ही हैं। ४१ प्रकृतियों का बँध नहीं होता है। यह सराग सम्यग्दृष्टि होता

है, क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवके अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जनित और मिथ्यात्व उदय जनित रागादिक नहीं होते हैं, जो पत्थरकी रेखा आदिके समान होते हैं। ऐसा राग लेश भी हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

सम्यग्दृष्टिके निरास्रवत्वका द्वितीय समाधान—इस ग्रन्थमें पंचम गुणस्थानवर्ती जीव के ऊपरके गुणस्थानवर्ती साधु-संत वीतराग सम्यग्दृष्टि पुरुषको गौणरूपसे लक्ष्यमें रखा है। इस ग्रन्थका स्वाध्याय करते समय यह ध्यान में रहना चाहिए कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव मुख्य रूप से निर्ग्रन्थ साधुवोंके प्रति सम्बोध करके सब कुछ कह रहे हैं और जो उन्हें कहा जा रहा है वह सब गृहस्थ जनोंके भी चूँकि एक ध्येयके हैं सो लागू होता है, किन्तु सम्बोधनेमें उपदेशमें मुख्य लक्ष्य है निर्ग्रन्थ साधुका। उनका मुख्यरूपसे ग्रहण है और सराग सम्यग्दृष्टि जीवका गौरणरूपसे ग्रहण है। तब यह ध्यानमें रखा जायगा कि यह सब कुछ उन साधु-संतोंके लिए कहा जा रहा है कि परमाणु मात्र भी राग हो तो श्रुतकेवलीकी तरह भी हो जाय तो भी आत्मा और अनात्माका ज्ञान न होनेसे वह सम्यग्दृष्टि न होगा।

सम्यग्दृष्टिके निरास्रवत्वका तृतीय समाधान—तीसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके रागरहित निजस्वरूपका सर्वथा निर्णय होता है। अपने स्वरूपको सम्यग्दृष्टि यों नहीं देख सकता कि हमारा रंच रागवाला आत्मा है। धर्मकार्योंमें आवश्यक कामोंमें बड़ी सावधानी बर्तकर सब क्रियाएँ करके उन क्रियावोंको करते हुएमें वह इतना विविक्त रहता है, जानता है, श्रद्धान करता है कि एक जाननमात्र वृत्तिको छोड़कर अन्य सब ये वृत्तियाँ मेरा स्वरूप नहीं हैं। तो श्रद्धामें रंचमात्र भी जिसके राग बस रहा हो, यह मेरा ही है, वह जीव बहुत शस्त्रज्ञाता हो जानेपर भी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है।

अध्रुवकी प्रीति तजनेका उपदेश—अनादिकालसे नित्य मत्त हुए कषायोंमें व्यग्र हुए ये संसारी प्राणी, ये रागी जीव प्रत्येक पदमें, स्थानमें, जन्म जन्ममें ये सोते ही रह आये हैं। वे जिस पदमें सोते आए हैं उस पदको तुम अपद समझो अर्थात् हे भव्य जीव! वह तुम्हारे रमनेका स्थान नहीं है। हे अज्ञानके अंधजनों! अब अपने अज्ञानको छोड़ो और वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करो। उस पदको छोड़ो और इस निज पदमें आवो। जहाँ पर यह चैतन्यधातु यह ज्ञानस्वरूप सिद्ध है, शुद्ध है, सबसे न्यारा है, स्वच्छ है, यह आत्माका ज्ञानस्वभाव अपने ही लक्षण रसके भारको भरता है, स्थायीपनेको प्राप्त हो रहा है। इन अस्थायी चीजोंमें रुचि मत करो। जो चीज नष्ट हो जाने वाली है उनमें अंतरंगसे रुचि करोगे तो उनके वियोगके कालमें अत्यन्त विषाद होगा। सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपको समझते रहो तो न संयोगमें क्षोभ होगा और न वियोगमें क्षोभ होगा। अध्रुवको छोड़कर इस ध्रुव ज्ञानस्वभावमें रुचि करो।

ध्रुवमें परमार्थताकी दृष्टि—भैया! बड़े-बड़े संतोंने कौन-सा वह विलक्षणकार्य किया जिसके प्रसादसे वे भगवंत हुए। परमें रुचि तो कुछ किया ही नहीं। करनेकी बात तो जाने दो, बाहरके

समागमोंका भी जिसने त्याग कर दिया ऐसे ज्ञानीसंत महंतोंने कुछ अपनेमें ही विलक्षण सुलक्षण स्वलक्षणरूप कार्य किया, जिसके प्रसादसे वे निर्मल स्वच्छ आनन्दमय हुए। अपने आपके भावोंसे ही सद्गति मिलती है और अपने आपके ही भावोंसे दुर्गति मिलती है। हमारा भवितव्य तो हमारे परिणामोंपर ही निर्भर है। मैं अपने परिणामोंमें बाह्य वृत्तिकी हठ करूँ तो उसका फल अच्छा नहीं होता है। यदि मैं अपने परिणामोंमें अन्तर वृत्ति की हठ रखूँ तो चूँकि यह अन्तरात्मा मेरे स्वाधीन है, अतः इसकी वृत्तिमें आनन्द है, शांति है, अध्रुवकी प्रीति तजकर एक ध्रुव आनन्द ज्ञायकस्वभावकी रुचि करो।

प्रभुकी आन्तरिक भक्ति—मंदिरमें जिनमूर्तिके समक्ष हमारा यह भाव बने कि हे प्रभो! तुम्हारी पर्याय और स्वभाव एकसरस हो गया है और मेरा परिणमन और स्वभाव एक रस नहीं हुआ है। यही हममें और प्रभु आपमें अन्तर है। पर प्रभु अपने ज्ञानस्वभावके साथ पर्यायमें भी एक रस हो गया है। हम स्वभावसे तो ज्ञानरूप हैं पर पर्यायमें परिणमनमें अर्थात् जो मुझपर बीत रही है वह विरुद्ध बात बीत रही है। स्वभावतः सारा विश्व इसके ज्ञानमें अनायास आता रहे पर हम चल चलकर, प्रवृत्ति कर करके जानना चाहते हैं, फिर भी हमें जानकारी नहीं हो पाती है। हमारा परिणमन स्वभावसे ऐसा विपरीत चला हुआ है। हम आनन्दमय हैं, किन्तु क्या गुजर रहा है हमपर कि क्षोभके बिना कुछ समय भी नहीं रह पाते हैं। सांसारिक सुख मिलता है तो वहाँ क्षोभ मचाया करता है और कोई क्लेश हुआ करता है तो वहाँ क्षोभ तो होता ही है। कहाँ तो मेरा आनन्दस्वभाव और कहाँ विरुद्ध चलना पड़ता है। प्रभो! आपमें और मुझमें यही अन्तर है। आप अन्तरमें व बाह्यमें भी समरस हो, हम अन्तरमें तो शुद्ध हैं और बाह्यमें परिणमनमें विविधिरूप हो रहे हैं। यह विविधता मेरी मिटे।

जीवलोककी ब्रह्मरूपता—कुछ लोग कहते हैं कि यह सृष्टि कैसे बनी? जब ब्रह्माने अपने अन्तरमें विकल्प किया कि एकोहं बहु स्याम्। मैं एक हूँ, बहुत बन जाऊँ बस इतना सोचने भरका ही काम था कि यह सर्व सृष्टि बन गई। इसका प्रयोजन यथार्थमें यह लेना कि जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मरूप हैं। ब्रह्म कहते हैं उसे जो अपने गुणोंसे बढ़ते रहनेका स्वभाव रखे स्वगुणैः वृंहणति इति ब्रह्म। सो इस चेतनको देखो कि यह अपने गुणोंको बढ़ाने का स्वभाव रखता है। सर्वज्ञ बननेमें श्रम नहीं करना पड़ता है। सर्वज्ञता तो इसके स्वभावकी सहज कला है। यह ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञता के लिए उद्यत है, किन्तु इसके आवरण जो पड़ा है उस आवरणके कारण सर्वज्ञता प्रकट नहीं होती है। वह आवरण क्या है? विषय और कषायके परिणाम। यह विषय कषायोंका परिणमन ही सर्वज्ञता का आवरणक है। ज्ञानबलसे जब विषयकषाय परिणम सर्वथा निर्मूल हो जाय तब इसकी सर्वज्ञतामें अन्तर्मुहूर्तसे अधिक विलम्ब नहीं लग सकता। तो यह अपने गुणोंसे बढ़ते रहनेमें स्वभाव वाला है, सर्व चेतन ब्रह्म है।

ब्रह्मकी एकरूपता—ये ब्रह्म यद्यपि अनन्त हैं तो भी जातिदृष्टिसे, लक्षणदृष्टिसे, स्वभावदृष्टिसे सब एक हैं। जैसे एक घड़ेका पानी १० गिलासोंमें अलग-अलग भर दिया तो पानीरूप पिण्ड १० जगह है पर ठंडेपनपर जब दृष्टि देंगे कि यह ठंडापन स्वरूप है तो उस स्वरूपको १० जगह तो कहें क्या वह तो पिण्डरूपको भी नजर नहीं करने देता। इसी प्रकार यद्यपि ये जीव सब अनन्त हैं किन्तु इन जीवोंमें जो स्वभाव लक्षण अनादि प्रसद्धि है उस केवल स्वभावपर दृष्टि दें तो जीवकी व्यक्तियाँ ही नजर नहीं आतीं। केवल एक चैतन्यस्वरूप दृष्ट होता है। यों ब्रह्म एक हो तो स्वभावदृष्टिसे तो एक देखा, किन्तु वस्तुत्व गुणके प्रतापसे जो अर्थक्रिया चलती थी उसको एक साथ लपेटे रहा। तब यह बात प्रसिद्ध हुई है कि एक ब्रह्म समस्त सृष्टि करता है। देखो भैया! जरा समन्वयात्मक दृष्टिसे निहारिये सृष्टि होनेका जो सिस्टम था वह यह था ना, कि एकोहं बहु स्याम्। प्रत्येक जीव अपने आपमें एकत्वविभक्त है, सर्वसे न्यारा और अपने आपके स्वरूपमें तन्मय है। ऐसा अद्वैत होकर भी जब इसने अपने आपमें बहुरूपकी श्रद्धा की तो सृष्टि चलने लगी।

स्वानुभूतिका स्रोत—इस जीवकी अनुभूति स्वलक्षणके अनुभवसे होती है। पदार्थों के पहिचाननेकी चार पद्धतियाँ हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। जैसे इस चस्माघरको समझना है तो द्रव्य तो यह है। क्षेत्रसे इतना लम्बा-चौड़ा है, कालसे इतना पुराना है और भावसे जो इसमें गुण हों उन गुणोंरूप है। जीवद्रव्यको भी पहिचानो। यह जीव द्रव्य गुणपर्याय पिण्डरूप है। क्षेत्रसे असंख्यातप्रदेशी है। कालसे जिस-जिस परिणतिसे परिणत है उस-उस रूप है। और भावसे ज्ञान दर्शन आदिक अनन्त शक्तिरूप है। पर जिस एक अनुभूति स्वभावसे जीवका परिचय हुआ है उसका इन चारोंमें ही जिकर नहीं आया और जिस दृष्टिसे स्वानुभूति होती है वह स्वानुभूतिका स्रोत न द्रव्यमें मिला, न क्षेत्रमें मिला, न कालमें मिला, न भावमें मिला।

स्वानुभूतिका भावविकल्पसे अगम्यता—गुणपर्यायका पिण्ड आत्मा है, ऐसे दृष्टिकी स्थितिमें स्वानुभव नहीं जगता। पर परिचय तो किया जाता है कुछ, असंख्यातप्रदेशी इतना लम्बा-चौड़ा आत्मा है, ऐसी दृष्टिमें भी स्वानुभव नहीं जगता, किन्तु स्वानुभव जगने के लिए जो आत्माके बारेमें प्रथम ज्ञान चाहिए वह होता रहता है। कालकी दृष्टिमें भी स्वानुभूति नहीं जगती है। अब रह गया भाव, यह भाव दो प्रकारसे देखा जाता है, एक भेद रूपसे और दूसरा अभेद रूपसे। भेदरूपसे देखनेपर तो अनन्त गुण ध्यानमें आते हैं। इस आत्मामें ज्ञानगुण दर्शनगुण चारित्रगुण आदिक हैं। सो ऐसे गुणोंको देखते जावो, वहाँपर भी विकल्प हैं, स्वानुभूति नहीं होती है।

स्वानुभूतिका स्रोत अभेदस्वभावप्रतिभास—किन्तु जो एक अभेदभाव है, अभेदस्वरूप है, चैतन्यस्वभाव है जो कि समस्त परभावोंसे भिन्न है और सर्व ओरसे पूर्ण है, पूर्ण था, पूर्ण है, पूर्ण रहेगा। और जिस पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है जिसमें जो पर्याय प्रकट होती है वह उसमें पूर्ण है। परिणमन कुछ भी अधूरा नहीं होता है। कोई परिणमन ऐसा उथल-पुथल मचाये कि मैं तो अधूरा ही बन पाया हूँ, आधा अगले समयमें बनूँगा ऐसा नहीं हुआ करता है। इस पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट

होता है, और पूर्ण प्रकट होनेपर प्रथम परिणमन पूर्ण विलीन हो जाता है। पूर्णके विलीन होनेपर भी यह पूर्ण, पूर्ण ही बना रहता है। ऐसा यह चारों ओरसे पूर्ण चित् स्वभाव है, अभेद भाव है। जो आदि अंत, मध्य कर रहित है सो रागसे भी हटे और अपूर्ण स्वभाव परिणमनसे भी हटे, मति ज्ञानादिक परिणमनसे भी हटे और चूँकि परिणति सब अध्रुव हैं, स्वभाव परिणमन भी प्रतिक्षण पूर्ण-पूर्ण प्रकट होता रहता है। वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, उनसे भी हटकर जब अन्तरमें देखा तो कुछ तो एक चैतन्यस्वभाव दृष्ट हुआ, किन्तु इस चित्स्वभावके प्रति भी यह मैं इस एक स्वभावरूप हूँ। ऐसे एकका भी संकल्प कर लेता है तब तक भी स्वभाव नहीं होता। उस संकल्प-विकल्पको भी छोड़कर अभेद प्रतिभास हो तब स्वानुभव होता है।

अभेद स्वादका एक दृष्टान्त—जैसे कोई बढ़िया भोजन बनानेके बाद उस भोजनको एकचित्त होकर खाता है उस समय उस भोजनकी भी चर्चा, कथन, चिंता न आना चाहिए, नहीं तो उस भोजनके सुखमें अतिशय नहीं होता। हलुवा खाते जावो और उसके सम्बन्धमें यह विचार करते जावो कि इसमें अच्छा घी पड़ा है, शक्कर पड़ी है तो इस विकल्पसे वह जो एकरस होकर खानेका सुख भोगा जाता है वह स्थिति तो नहीं आ पाती है। यह एक लौकिकताकी बात कही जा रही है। इस चैतन्यस्वभावके अनुभव समयमें भी ऐसी ही बात है कि इस चैतन्यस्वभावको एक अलौकिक ज्ञेय बनाकर लो यह है, यह एक ही सार है, इस तरहकी चिंता न रखें तब तक भी रंच अनुभव नहीं होता है। इस एकपनेके संकल्प विकल्प का भी त्याग करे तो केवल अनुभवमात्र स्थिति होती है वह स्वानुभवकी स्थिति है। देखो इसमें जो आश्रय रहा, अवलम्बन रहा, विषय रहा, ज्ञेय हुआ, वह एक स्थायी भाव है।

स्वरसनिर्भर स्वपदकी दृष्टिके लिये आदेश—हे जगतके प्राणियों! जिस पदमें अनन्त कालसे अब तक रमते चले आए हो वह तुम्हारा पद नहीं है। चेतो, समझो और देखो इस नयकी गलीसे चलकर इस अपने अंतः परमात्मत्वके पदमें आवो। यहाँ ही उस चैतन्य धातुका दर्शन होगा जो स्वतः सिद्ध है, शुद्ध है अर्थात् समस्त परद्रव्योंसे विविक्त है। और अपने आपमें उत्पन्न हुए औपाधिक भावोंसे भी विविक्त है ऐसा शुद्ध ध्रुव यह चैतन्य धातु अपने रसके भारसे स्थायी भावको प्राप्त होता है।

ध्रुवस्वभाववलम्बनकी कलाका प्रताप—यह निर्जराका प्रकरण है। कौनसी कला है जिस कलाके निमित्तसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। वह कला एक ही है और वह है निजी स्थायी जाननस्वभावका अवलम्बन, इस एक काम करनेमें अन्य परपदार्थोंमें कर्मोंमें कितने ही काम स्वयमेव होते रहते हैं, बहुत लम्बी स्थिति वाली प्रकृतियाँ अपने भावोंकी स्थितिमें संक्रान्त हो जाती हैं, इसी प्रकार अधिक दूर लम्बी डिग्रियोंको अनुभागोंको थोड़े अनुभागमें वर्गमें प्राप्त हो जाता है और स्वयमेव फिर वह बिना फल दिए अथवा निष्फलवत फल दिए निजीर्ण हो जाता है। कितने भवोंके? अनन्त भवोंके भी।

स्वभावाश्रयकलासे अनन्तभवकर्मवद्धक्षय—यहाँ शंका हो सकती है कि अनन्त भवोंके बाँधे हुए कर्म अब कहाँ हैं इस समय। तो इसका समाधान यह है कि अनन्त कई प्रकारके होते हैं, सर्वावधि ज्ञान जितनी लम्बी संख्याको नहीं जान सकता उसको भी अनन्त कहते हैं। अवधिज्ञानका उत्कृष्ट विषय असंख्यात है। वहाँ वह अनन्त नहीं लेना कि जिसका अंत ही न हो, किन्तु अवधिज्ञानके द्वारा अगम्य अनन्त भवों के बाँधे हुए कर्म खिर जाते हैं। इतने अनन्त तो कोई लाख करोड़ वर्ष तक निगोदमें रहे तो उसमें ही हो जाते हैं। वहाँके बँधे कर्म भी तो अनेक इस समय भी हैं। तो इतने भी कर्म जिस कलाके प्रसादसे क्षणभरमें ध्वस्त हो जाते हैं वह कला है स्वभाव आश्रयकी कला।

निज चैतन्यधातुकी स्थायिता—हे मुमुक्षु जीवों! अनादिकालसे जिस पदमें रमते चले आये हो उस पदको अपना पद न समझकर वहाँसे हटकर इस निज पदमें आवो जिस पदमें यह चैतन्य धातु स्थायीपनेमें विराजता है। जैसे शब्दका मूल धातु शब्दका कारण है और इससे कितने ही शब्द निकालते जावो। इस प्रकार यह चैतन्यस्वभाव उस वर्षकी तरह है। कितने ही शब्द निकालते जावो, वह मूलमें एक ही रूप है। अथवा सोने चाँदी आदिके जो धातुयें हैं उनके कितने ही गहने बनाते चले जावो, उन सब गहनोंमें उस धातुने अपना धातुत्व नहीं छोड़ा। स्वर्णके कितने ही गहने बनाए जायें पर स्वर्णत्व नहीं छूटता। ऐसा यह निज पद है। ऐसी निज पदकी सामर्थ्यको सुनकर अब जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि वह पद क्या है? इसके समाधानमें आचार्यदेव कहते हैं

अपदमिह दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।

थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥ २०३ ॥

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवके आश्रयका उपदेश—इस आत्मामें पर उपाधिका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए द्रव्यभावरूप सभी भावोंको छोड़कर अर्थात् व्यंजन पर्याय और गुणपर्याय की दृष्टि तजकर एक नियत स्थिर और स्वभावसे ही उपलभ्यमान स्वानुभव प्रत्यक्षगोचर चैतन्य स्वभावको हे मुमुक्षु तुम ग्रहण करो। इस भगवान आत्मामें द्रव्यभाव रूप बहुत भाव दिखते हैं। कुछ ऐसे हैं जो इस आत्मभगवानके स्वभावरूपसे नहीं पाये जाते हैं, वे अनित्य हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, कितने ही प्रकारसे होते रहते हैं, अनेक हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी भाव हैं। कभी कुछ होता है कभी कुछ होता है, कभी किसी भी प्रकारसे यह चलता रहता है। वे सब अस्थासी भाव हैं। हे मुमुक्षु आत्मन्! तू उनी प्रीतिमें शांति नहीं पा सकता। उनको तू छोड़ और अपने आपमें जो स्वभावरूपसे पाया जाता है, नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है शाश्वत रहने वाला है, सो चूँकि वही स्थायी भाव है, सो स्थायी सत् सामर्थ्यका आश्रय ही लेने योग्य है। अतः तू इस निज पदको ग्रहण कर।

शरणयोग्य आत्मभावकी गवेषणा—इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि इस आत्मामें कौनसा भाव ऐसा है जिसका हम शरण गहें? यह जीव परका शरण नहीं गहता। जो भी शरण गहता है

वह अपना ही गहता है। कल्पनामें यह अज्ञानी मानता है कि मेरा पिता शरण है, भाई शरण है। ये सब ज्ञानमें कल्पनाएँ होती हैं पर शरण बनाता है अपने ही परिणाम को। कोई ज्ञानी आत्माको शरण बनाता है तो कोई ज्ञानी परिणामों को शरण बनाता है। तो इस आत्मामें ऐसा कौनसा भाव है जिसकी हमें शरण लेनी चाहिए, आत्मामें अनेक प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं, पर्यायें उत्पन्न होती हैं। कुछ तो पर्यायें द्रव्यपर्यायें होती हैं वे तो हैं द्रव्यपर्यायें और आत्माके गुणोंकी जो दशा है वह है गुणपर्याय। जैसे मनुष्य पशु-पक्षी ये सब द्रव्यपर्यायें कहलाती हैं क्योंकि ये आत्माके प्रदेशोंका सम्बन्ध पाकर हुए हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, शांति, संतोष ज्ञान ये सब गुणपर्यायें कहलाती हैं, इनका प्रदेशोंसे सम्बन्ध नहीं है। हम किसीको मनुष्य रूपमें देखते हैं तो लम्बाई-चौड़ाई नहीं शक्लोंमें देखते हैं, ये सब द्रव्यपर्यायें हैं। जीवमें जितनी द्रव्यपर्यायें हैं वे सब क्षणिक हैं। कोई मनुष्य सदा न रहेगा। कोई पशु सदा न रहेगा और जितनी गुणपर्यायें हैं वे भी क्षणिक हैं। न विषय, न कषाय, न मौज, न अशांति, न अज्ञान कुछ भी सदा नहीं रहता।

स्वभावपरिणमनोंकी नियतताके व समानताके साथ अध्वता प्रश्न शांति तो सदा रह सकती है? उत्तर उनसे भी सूक्ष्मतासे देखेंतो प्रत्येक समयमें शांति जुदा-जुदा है। प्रत्येक समयमें जो अनुभव होता है वह जुदा-जुदा है। चाहे एकसमान हों, पर है भिन्न-भिन्न परिणमन। उन सब पर्यायोंमें से कुछ तो हैं स्वभावपर्यायें और कुछ हैं विभावपर्यायें। जैसे शुद्ध ज्ञान होना स्वभावपर्याय है और क्रोध मान आदिक भाव होना यह विभाव पर्याय है। तो जो आत्माका स्वभाव नहीं है ऐसे जो क्रोध मान आदिक कषाय हैं ये सब अनियत हैं, नियत नहीं हैं। अभी क्रोध हो, मान हो, फिर माया हो, कभी क्रोध बड़ी तेजी में हो तो इसमें नियतपना नहीं है। और जो स्वभावपर्याय हैं उनमें नियतपना तो है। जैसे केवल ज्ञानीके जो ज्ञान चलता रहता है वह एकसा चलता रहता है। आनन्द जो चलता है वह एकसा चलता है और संसारी जीवके न जो ज्ञान एकसा है और न सुख-दुःख एकसा है। तो जाननस्वभावसे जो विरुद्ध परिणमन है वह सब अनियत है और अनेक है। केवलज्ञानीका तो एक शुद्ध परिणमन है स्वच्छ ज्ञान है। तीन लोक और तीन कालको जान गया तो ऐसा ही जानता रहेगा हमेशा। सो उसे निराकुलताका अनुभव होता है तो वैसी ही निराकुलताका अनुभव चलेगा।

अस्थिरताका मूल अज्ञानभाव संसार अवस्थामें, मलिन हालतमें जीवके अनेक प्रकारके भाव चीते हैं, एक भाव प्रायः ठहर ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि रागद्वेष अन्तरमें चलते रहते हैं और फिर पर्याय बुद्धि साथमें हो तब तो गजब ही हो जाता है। कहते हैं हमारा मन स्थिर नहीं है। थोड़ी देरमें कुछ विचार हुए, थोड़ी देरमें कहीं जाना। तो कैसे अस्थिरता हुई, क्योंकि मूलमें रागद्वेष बसा है। और जिसके पर्याय बुद्धि बसी है; अर्थात् मैं सबसे अच्छा कहलाऊँ, सब लोग मुझे बड़ा मानें, उनमें मैं एक चतुर पुरुष हूँ, श्रेष्ठ हूँ, इस प्रकारकी पर्याय बुद्धि करे तो उसका चित्त तो किसी भी जगह स्थिर नहीं रह पाता। तो अस्थिरताका मूल कारण है अज्ञानभाव।

परभावको छोड़कर परमभावको ग्रहण करनेका उपदेश—अज्ञानभावमें अनेक दशायें होती हैं वे सब क्षणिक हैं, कभी हुई कभी न हुई, ऐसा यह व्याभिचारी भाव है। कभी कार्य हुआ तो कभी न हुआ। क्रोध भी सदा नहीं रहता है, मिटेगा, मान आयगा, मिटेगा और कषाय आयगा तो ये बदल बदलकर नाना कषाय चलती रहती हैं। ये सबके सब अस्थायी भाव हैं। ये आत्मामें स्थिर नहीं रह सकते हैं। ये आत्माको भी अस्थिर करते हैं और स्वयं भी अस्थिर हैं। इसलिए इन भावोंपर विश्वास न करो। ये ऐसे असद्भूत हैं और जो आत्मा स्वभावरूप से उपलभ्यमान हैं, नियत अवस्था वाला है, एक है, नित्य है, सदा रहता है, ऐसा जो कुछ एक भाव हो वह ही स्थायी भाव है। उसे कहते हैं चैतन्यभाव। सब कुछ बदलता रहता है पर चैतन्यस्वभाव अपरिणामी है। हे हितार्थियों! इस परमभावको ग्रहण करो।

परिणामिक चैतन्यस्वभाव—इस न बदलने वाले स्वभावको परिणामिक कहते हैं। अर्थात् परिणाम जिसका प्रयोजन है, परिणाम तो होते रहते हैं और जिसके परिणाम हुए उसे कहते हैं परिणामिक। सो परिणामिक स्थायी भाव है। तो भैया! परमार्थ रसतया स्वादने योग्य यह ज्ञान ही एक पद है। अर्थात् हे भव्य जीवो, न तो अपनेको गाँव वाला समझो, न परिवार वाला समझो, न मनुष्य न स्त्री और न किसी पोजीशनरूप, किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक स्वतःसिद्ध एक चैतन्यस्वभावमात्र अपना अनुभव करो। ऐसा अनुभव करो कि जिस अनुभवमें जीव-जीवमें परस्पर भेद न रहे। जैसे बहुतसे लोग बैठे हैं यहाँ अग्रवाल, परवार, जायसवाल उनमें अपने प्रयोजनसे अपनी-अपनी बिरादरीसे जुदा भी अनुभव कर सकते हैं। ये और हैं, हमारे तो ये हैं। सम्बन्ध व्यवहार इन्हींमें होना है। इस तरहसे देखो और जब कोई धर्मके नामसे देखो तो सब एक समान हैं। धर्मके नातेसे फिर फर्क नहीं आता है। जैसे विवाह शादी सामाजिक व्यवहारमें कुछ फर्क आता है कि हमारी भाजी इनके यहाँ जायगी, इनके यहाँ न जायगी, फर्क रहता है और जब दशलक्षणी आयी, उत्सव हुआ, धर्मका काम हुआ कि यह ध्यान नहीं रहता कि यह हमारी जातिके हैं, यह दूसरी जातिके हैं। यहाँ तो एक जैनत्व ही दृष्टिमें आता है। इसी प्रकार तब तक रागद्वेषकी बात चलती है, जब तक अपने स्वार्थ और कषायकी बात चलती है तब तक तो जीवमें छटनी रहती है कि यह मेरा है और यह पराया है। जब यह धर्मके अनुभवमें उतरता है तब इसे यह मेरा है, यह पराया है, यह छटनी नहीं रहती है। वहाँ तो सब जीव और स्वयं मात्र ज्ञानस्वरूप अनुभवमें रहता है।

कल्याणमय स्वाद ज्ञानपद—भैया! जीवोंमें एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टि जाती है कि सब जीव एकरस हैं तो इस दृष्टिका ही नाम कल्याणका उपाय है। यह सारा जगत ब्रह्मस्वरूप है ऐसा मानकर उस स्वभावदृष्टिको ग्रहण करना चाहिए, सो भी मार्ग ठीक है किन्तु ब्रह्म एक अलग चीज है और वह एकस्वरूप है, सर्वव्यापक है और उस एकने ही नाना जीव बनाये हैं, ऐसी दृष्टि जानेसे भेद हो गया और यों देखा जाय कि सर्व जीव हैं और सभी जीवोंकी उन सब जीवोंमें अलग-अलग माया चल रही है। उनकी अपनी-अपनी परिणिति चल रही रही है। सर्व वस्तुओंके स्वरूपको देखो तो सर्व जीव अमूर्त

ज्ञानानन्द नजर आये। इस स्वरूपदृष्टिसे किसी भी जीवमें और मुझमें अन्तर नहीं है। ऐसे केवल चैतन्यस्वरूपको निरखो तो वहाँ सब जीव एकस्वरूप हो जाते हैं और जहाँ एक स्वरूप सब जीव हुए वहाँ इसके निराकुलता उत्पन्न होती है और जहाँ छँटनी है वहाँ आकुलता होती है। इस कारण जहाँ विपत्तियोंका नाम नहीं है ऐसा जो एक ज्ञानानुभव है उस ज्ञानानुभवका ही स्वाद लेना चाहिए।

सहजस्वरूपदर्शनमें प्रभुदर्शन भैया! स्वकीय सामान्य ज्ञानज्योतिके अनुभवमें आने पर सर्वभाव, क्षणिक, क्रोधादिक मनुष्यादिक ये सब परिणमन अपद हो जाते हैं, इसके उपयोगमें स्थान नहीं पाते हैं। सब कहते हैं कि यह जीव प्रभुमें मग्न हो जाय, ब्रह्ममें मग्न हो जाय, पर ब्रह्ममें मग्न होनेका तरीका क्या है? ब्रह्म है ज्ञानानन्दस्वरूप और अपने उस स्वरूपको देखो और ज्ञानानन्द स्वरूप अपनेको अनुभव करो तो उस ज्ञानानन्दस्वरूपके अनुभवन की परिणतिमें यह देह धन, परिवार सबको भूल जायगा और ये सब विशेष चीजें विस्मृत हो जाती हैं, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म ही अपनी दृष्टिमें रहता है वहाँ इसे प्रभु मिलता है और प्रभुमें मग्न होता है। हम अपनेसे बाहर कहीं प्रभुको समझकर दृष्टि गड़ाएँ तो प्रभु नहीं मिलता है। जैसे प्रभुकी मूर्ति ही, जिनेन्द्रदेवका बिम्ब ही सामने है और हम ऐसा ज्ञान करें कि इस प्रतिमामें भगवान हैं और आँखें फाड़कर प्रतिमामें भगवानको देखें तो कभी न मिलेगा। प्रतिमामें भगवान अथवा समवशरणमें विराजमान परम औदारिक शरीर से भगवानको देखेंतो भगवान नहीं मिलता है, किन्तु अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपको देखने में बल लगायें तो भगवान देखनेमें आ जाता है।

ज्ञानज्योतिमय भगवान भगवान जड़ पदार्थों नहीं है। जड़ पदार्थोंका स्वरूप ज्ञानानन्द नहीं है। तो जड़में भगवान कहाँ दिखेगा? मंदिरमें, मूर्तिमें, पाषाणमें अथवा समवशरणमें भी बैठा हुआ जो उनका शरीर है उस शरीर में भगवान नहीं है। भगवान तो भगवानमें है। ज्ञानानन्दस्वरूप जो निर्मल आत्मा है उसमें भी भगवान है। सो जड़ पदार्थोंमें तो भगवान मिलता नहीं है, और जो निर्मल आत्मा है साक्षात् वह उन जड़ पदार्थोंके प्रदेश से अत्यन्त दूर है। उसका परिणमन उसके प्रदेशोंसे अत्यन्त दूर है। तो उस दूर रहने वाले निर्दोष आत्माको कैसे देख सकोगे? मैं जो कुछ कर पाता हूँ सो अपने आपके जीवमें ही कर पाता हूँ। कुछ जानूँ तो अपने आपके स्वरूपको जानता हूँ, कुछ अनुभव करूँ तो अपने आपका ही अनुभव करता हूँ। मेरा काम मेरे प्रदेशोंसे बाहर नहीं होता। तो मैं अपने प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कहीं भी अपना प्रयोग नहीं कर सकता हूँ। मैं न जान सकूँ, न अनुभव कर सकूँ, न देख सकूँ। जो कुछ करता हूँ सो अपने आपमें ही करता हूँ। तो जब हम उस निर्मल निर्दोष परमात्माको ज्ञेयमात्र बनाकर अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपमें बल देंगे तो उस परमात्माके दर्शन हम कर सकते हैं।

निरापद स्वरूप परमात्मा है ज्ञानानन्दस्वरूप और आत्मा भी है ज्ञानानन्दस्वरूप। परमात्माका ज्ञान और आनन्द अनन्त हो सकता है। हमारा ज्ञान और आनन्द सीमित है, लेकिन अपने इस ज्ञानानन्दका विषय ज्ञानानन्दको बनाएँ तो इस ज्ञानके द्वारा ही उस परमानन्द ज्ञानमय प्रभुको तक

सकता हूँ। एक ही उपाय है और सभी संतों ने आत्मसिद्धिकेलिए इस एक ही उपायको किया है। इसीको कहते हैं ज्ञानका स्वाद लेना। इतना ज्ञान तो हो रहा है, उस ही ज्ञानका ज्ञान करने लगे तो हम सहजसिद्ध भगवानमें स्थित होकर ज्ञान का स्वाद लेने लगेंगे। यह ज्ञानका स्वाद इतना निर्मल पवित्र आनन्दमय है कि इसके आगे और सब बातें अपद मालूम होती हैं।

ज्ञानरसके स्वादीको अन्य रसकी असह्यता—भैया! जिसको इस ज्ञानके स्वरूपका किसी भी क्षण अनुभव होता है वह इस ज्ञानभावके रससे भरा हुआ महान् स्वाद लेता हुआ ऐसा अपने लक्ष्यमें दृढ़ हो जाता है कि वह द्वन्द्वमय स्वाद लेनेके लिए असह्य है; अर्थात् अब दूसरी चीजका स्वाद लेना उन्हें सह्य नहीं है। सब ज्ञेयतत्वोंको एक ज्ञानके स्वादमें उतारते हैं। वह द्वन्द्वताको लेने के लिए असह्य होता हुआ निज वस्तु वृत्तिका अनुभव करते हैं। उन्हें अपने आप मिल गया है। और अपने आपके मिल जानेसे उनकी सर्व आकुलता समाप्त हो गई है। निर्मोही जीव बाहरमें अपने ज्ञान और आनन्दको ही ढूँढ़ा करते हैं अर्थात् अपने आपको ढूँढ़ा करते हैं। और उसे ज्ञान और आनन्द खुदमें मिल जाय तो इसी के मायने हैं कि अपने आपको पा लिया। इस अपने आपको पा लेनेसे जो एक समरस ज्ञान का स्वाद आता है तब वह जीव अन्य स्वाद लेना चाहता नहीं है, क्योंकि वह आत्माके स्वाद के प्रभाव से युक्त है; अर्थात् आत्मीय ज्ञान होनेपर ज्ञानानुभूति से चिगता नहीं है।

निर्बाधपदसे सबाधपदमें विवेकियोंके गमनका अभाव—ऐसे अपूर्व आनन्दका स्वाद पानेपर अब ज्ञानी संत बाहर कहाँ आयेंगे? जैसे सावनकी तेज बरसातमें अच्छी कोठरीमें पहुँच जानेपर जहाँ कि पानी चूता नहीं है, न आँधी पानी आती है उस समय बिजली कड़क रही है, तेज बरसात हो रही है ऐसी आफतमें कौन घरसे बाहर जायगा, अपना आनन्दसे घरमें बैठे हैं। इसी प्रकार अपने आत्माके अन्दर जहाँ कोई विपत्ति नहीं है, ऐसे आरामकी स्थितिमें ज्ञानी स्थित होगा। बाहर में बड़े संकट मच रहे हैं, तो अपनी ज्ञानकोठरीसे बाहर होनेपर, बाहर दृष्टि बननेपर सैकड़ों कल्पनाओंके संकट अनुभव किए जाते हैं। और कुछ औपाधिक द्वन्द्व भी बाहरमें मच रहे हैं। सो ऐसे संकटकी बरसातके समय कोई ज्ञानी संत अपने दृढ़ घरमें आ गया, जहाँ न विकल्प है, न संतोष है, एक परम आल्हादका ही अनुभव है, ऐसी निर्बाध स्थितिमें रहकर फिर कुछ अतरंगमें अपनेसे चिगकर कहाँ बाहर जाये? फिर यह ज्ञानी जीव बाहर नहीं जाता।

निर्विशेष उपयोगमें आत्माका निर्गल विकास—यह ज्ञानी संत विशेषका उदय नष्ट करता है, अपनेको किसी विशेषरूप नहीं मानता। और सामान्यका ही कलन करके, सामान्य का ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानी एकता को प्राप्त करता है अर्थात् स्वयंको यह एक ज्ञानरूप अनुभव करता है। यही आत्माका निज पद है और इस ही निज पदमें कल्याण है। इसीसे ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही अरहंत भगवंतोंने किया था जो आज उत्कृष्ट पद में अवस्थित है जिनकी बड़ी भक्तिसे हम उनकी पूजा करते हैं। उन्होंने इस ही एक ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभावकी उपासनाकी परिस्थितिसे ये कर्म ध्वस्त होते हैं, संसार मिटता है और

शिवपदकी प्राप्ति होती है। इस लिए सर्व प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोड़कर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्यस्वभाव है, ध्रुव स्वभाव का हमें अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभवके पात्र रह सकें, इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्तिके पात्र रह सकें, इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्तिके पात्र रह सकें, इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

आभिणिसुदोहिमण केवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।

सो ऐसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं ॥ २०४ ॥

परमार्थकी व्यक्तियाँ व मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका स्वरूप—आत्माका परमात्म शरणतत्व क्या है? इसका इस गाथामें वर्णन है। जीवका असाधारण गुण ज्ञान है और ज्ञानके ही अस्तित्वके लिए मानों अन्य सब गुण हैं। उस ज्ञान गुणकी ५ तरहकी जातियाँ होती हैं—मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो साक्षात् ज्ञान होता है उसे कहते हैं। जो कुछ देखा जाय, सुना जाय, धारण द्वारा जानें, रसनासे भी जानें, स्पर्शन इन्द्रियसे जानें वह सब मतिज्ञान है और मतिज्ञानसे जानकर उसही सम्बन्धमें विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है। आँखों से देखना और यह समझना कि यह (हरा है, तो) हरा है ऐसा श्रुतज्ञान है। और हरा ही दिखा; किन्तु हरेकी कल्पना नहीं हुई वह है मतिज्ञान। और फिर उस सम्बन्धमें और भी विशेष जानना यह अमुक जगहका बना हुआ रंग है, इसे अमुकने रंगा है, यह गहरा है, टिकाऊ है, यह सब श्रुतज्ञान कहलाता है। हम आप सबमें दो ज्ञान पाय जाते हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञान होनेका निषेध तो नहीं हो सकता है पर प्रायः है नहीं। २ ज्ञान हैं। अवधिज्ञान किसे कहते हैं, इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मीय शक्तिसे रूपी पदार्थोंको जान लेना सो अवधिज्ञान है। अमुक जगह क्या है, इतने साल पहिले क्या था—इस तरह पुद्गल सम्बन्धी बातोंको जान जाना सो यह अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अवधि लेकर जानता है। समस्त द्रव्योंको नहीं जान जायगा। कुछ जानेगा। समस्त क्षेत्रोंकी बात नहीं जानेगा। कुछ क्षेत्रोंको जानेगा इससे अधिक न जानेगा, कुछ कालकी बात जानेगा। समस्त कालकी न जान जायगा। अवधिज्ञान जानता तो तीनों कालकी है। भूतकी भी, वर्तमानकी भी और भविष्यकी भी पर वह भी सीमित ही जान पाता है और भावोंकी अथवा पर्यायमें भी कितनी प्रकारकी पर्यायों को जानेगा यह भवोंकी बात है। इस तरह अवधिज्ञानमें यह म्याद पड़ी हुई है। यहाँ चर्चा चल रही है कि हम और आपके जो ज्ञानगुण हैं उन ज्ञानगुणोंके कितने काम होते हैं? तो जाति अपेक्षासे ५ प्रकारके होते हैं, इस रूपसे समझाया जा रहा है।

मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान—चौथा ज्ञान है मनःपर्ययज्ञान। यह ढाई द्वीपके अन्दर या ढाई द्वीपके बराबर क्षेत्रकी संज्ञी जीवोंकी मनकी बात जान सकता है। इसमें भी म्याद पड़ी हुई है और पाँचवाँ ज्ञान केवलज्ञान समस्त लोका लोककी समस्त भूतकाल और भविष्यकालकी सर्व पर्यायोंको जानता है। इस तरह ज्ञानगुणकी ५ प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं।

एकपदके पांच भेद—ये पांचों अवस्थाएँ अध्रुव हैं। मतिज्ञान मिट जाता है, श्रुतज्ञान मिट जाता है, अवधिज्ञान मिटता है, मनःपर्ययज्ञान मिटता है। केवल ज्ञान ऐसा है कि सूक्ष्म दृष्टिसे तो प्रत्येक समयमें केवलज्ञान होता रहता है अर्थात् प्रत्येक समयमें उत्तर केवलज्ञान पर्यायिका प्रादुर्भाव और पूर्व ज्ञानपर्यायिका तिरोभाव होता रहता है। पर केवलज्ञानके बाद केवलज्ञान ही होता है। दूसरा ज्ञान नहीं होता है। इसलिए केवलज्ञानकी धारा अनविच्छिन्न चलती रहती है। इसलिए स्थूल साधारण रूपसे यह कहा जाता है कि केवलज्ञान नहीं मिटता है। केवलज्ञान हुआ तो अनन्तकाल तकके लिए होता ही रहेगा। ऐसे ये ५ परिणमन हैं ज्ञान गुणके, पर इनमें मूल एक ही पद है जहाँ हमें अपना उपयोग टिकाना है।

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवकी दृष्टिमें ही आत्मलाभ—भैया! मिट जाने वाली चीजों पर हम उपयोग दें तो आश्रय मिट जानेसे उपयोग भी बदल जायगा और अन्य-अन्य होता रहेगा। जब हमारा उपयोग अस्थिर रहा करेगा तो वहाँ हित नहीं पा सकते हैं। तो एक ध्रुव पदके अवलम्बनमें ही हित होगा। इन ५ प्रकारके ज्ञानके परिणमनमें ध्रुव सत्य यथार्थपद एक ही है, वह क्या? ज्ञानस्वभाव। जैसे अंगुली टेढ़ी सीधी, गोलमटोल कैसी भी करी जाय तो इसमें जो दशा है टेढ़ी सीधी होना, गोल होना ये सब दशाएँ मिटने वाली हैं, पर इन सब दशाओंमें जो अंगुलीका मेटर है वह तो वही है, टेढ़ी हो तो वहाँ अंगुलीका स्कंध है ही, सीधी हो तो वहाँ उस अंगुलीका स्कंध है, स्थायी है, दृष्टान्तके रूपमें और उसकी दशाएँ विनाशीक हैं। इस प्रकार ज्ञानगुण स्थायी हैं, ज्ञानस्वभाव शाश्वत हैं पर ज्ञानस्वभाव की जो परिणति है मति श्रुति आदिक यह अस्थायी है। ज्ञानी जीव अस्थायी पदार्थोंके प्रति हित बुद्धि नहीं रखता, आत्मबुद्धि नहीं रखता, क्योंकि मिटने वाला यदि मैं हूँ, परिणतियाँ यदि मैं हूँ तो परिणतियाँ मिटें तो हम मिट गए। फिर तो अपना ही विनाश चाहा।

परिणतियोंका स्रोत पारिणामिक भाव—भैया! परिणतियाँ तो मिटती हैं, पर परिणतियोंका जो स्रोत है, जिसकी ये दशाएँ हो रही हैं वह मैं हूँ। वह नहीं मिटता। तो इन समस्त ज्ञानोंमें जो मूल ज्ञानस्वभाव है यह ज्ञानस्वभाव नहीं मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थको ही प्राप्त करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। किसका हम चिंतन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथामें हैं सारतत्व शरण क्या है? परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हितके लिए इसके आगे और कुछ देखनेकी जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूँ। जैसे कि पशु पक्षी नार्की मनुष्य आदि बने रहनेसे आत्मा अन्य-अन्य नहीं हो जाता। मैं वहीका वही हूँ। सो यह मैं आत्मा एक ही हूँ। जब मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूँ तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप। वह ज्ञान भी एक ही पद है। इस ही एक ज्ञानको परम पदार्थका शरण कहो।

परम पदार्थ—पदका अर्थ सो पदार्थ। पद कहते हैं असाधारण स्वभावको, असाधारण लक्षणको। अब असाधारण लक्षणसे सहित जो अर्थ है उसका नाम पदार्थ है। आत्माके असाधारण गुणसे तन्मय जो अर्थ है वह है आत्मपदार्थ। आत्मा एक पदार्थ है, तो ज्ञान भी एक ही पद है और

ज्ञान नामक एक पद है, शाश्वत, अनादि अनन्त अहेतुक जो ज्ञानस्वभाव नामक एक आत्माका अचलित पद है वही परमार्थ साक्षात् मोक्षका उपाय है।

अशान्तिका कारण अध्रुवकी दृष्टि व शान्तिका कारण सिद्धोपासना—भैया! हम धन वैभवको देखते रहें तो इससे हमें शान्ति न होगी, पूरा न पड़ेगा। प्रथम तो जीवनमें ये ही विघट जायेंगे और जीवनमें भी जब तक इनका संग रहता है तब तक आकुलताएँ चलती रहती हैं। फिर अंतमें तो ये बिछुड़ ही जायेंगे। जड़ वैभवके उपयोगसे आत्माका हित नहीं है। और इस देहके उपयोगसे भी आत्माका हित नहीं है। अपने देहको देखते जावो अच्छा है, भला है, ठीक हो रहा है, उस देहकी स्थितिसे और उसके उपयोगसे आत्माका हित नहीं है। यह उद्देश्यके विरुद्ध बात है। धर्म करना है तो देहसे रहित होना है। जब तक देहसे सम्बन्ध है तब तक संसार अवस्था है। हम सिद्ध प्रभुको क्यों पूजते हैं कि वे देहसे रहित अमूर्तिक ज्ञानानन्दमय परमेश्वर हैं। और अरहंत भी ऐसे ही हैं। केवल कुछ समय तक देहका सम्बन्ध है। सो देह केवल एक क्षेत्रावगाही है पर अरहंत प्रभुकी दृष्टि देहपर रंच नहीं है जैसा केवलज्ञान सिद्ध प्रभुका है वैसा ही केवलज्ञान अरहंत देवका है। यह जो ज्ञानस्वभाव नामक एक पद है वही साक्षात् मोक्षका उपाय है।

व्यक्तियोंमें शक्तिकी अभिनन्दकता—यद्यपि इस आत्मामें मति श्रुत आदिक अनेक दशाएँ होती हैं पर ये अनेक प्रकारके ज्ञानपरिणमन रूप भेदज्ञान परिणमन इस एक अखण्ड ज्ञानस्वभावका ही अभिनन्दन करते हैं, समर्थन करते हैं अर्थात् आत्मामें जो भिन्न-भिन्न जानकारियाँ हो रही हैं ये नाना प्रकारकी जानकारियाँ आत्माके अखण्डस्वभावका विनाश नहीं करती हैं बल्कि अखण्ड स्वभावका समर्थन करती हैं। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे सूर्य मेघोंसे आच्छादित है और जब कभी थोड़ा-सा भी मेघ हटते हैं तो सूर्यका थोड़ा-सा प्रकाश होता है, लो ५ मील तक अब प्रकाश है, जरा और मेघ हटे तो लो २० मील तक प्रकाश हो गया। अब मेघ हटे तो १०० मील तक प्रकाश हो गया और बिल्कुल मेघ हट गए तो हजारों मीलमें प्रकाश हो गया। सो उन मेघोंके हटनेके अनुसार वहाँ प्रकाशका भेद पड़ जाता है। यह दो मीलका प्रकाश है, यह १० मील का प्रकाश है, यह ५० मील का प्रकाश है। तो ऐसा प्रकाशभेद क्या सूर्यके स्वभावसे पड़ गया? क्या सूर्यके स्वभावसे वे खण्ड हो गए? यह जरूर खण्ड है। कहीं दो मीलका प्रकाश, कहीं १० मीलका प्रकाश, कहीं ५० मीलका प्रकाश, तो यहाँपर प्रकाशके खण्ड हो जानेसे क्या सूर्यके प्रकाश स्वभावमें भी खण्ड हो जाते हैं? नहीं होते हैं। बल्कि ये खण्ड-खण्ड प्रकाश भी सूर्यके अखण्ड प्रकाश स्वभावका समर्थन करते हैं? अपन सब जानते हैं ना कि सूर्य तो पूर्ण अखण्ड प्रकाश स्वभावी है, पर बादलोंके विघटनसे उनके विघटनके अनुसार प्रकाशमें भेद पड़ गया है। पड़ जावो भेद यहाँ प्रकाश भेदके कारण सूर्यके अखण्ड स्वभावमें भेद नहीं पड़ सकता।

खण्डज्ञानोंमें अखण्ड ज्ञानकी अभिनन्दकता—इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वभावी है, सो कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण इसके ज्ञानस्वभावका पूर्ण विकास नहीं हो पा रहा है; किन्तु

जैसे-जैसे आवरणका विघटन होगा वैसे-वैसे ही मति श्रुत आदि रूप ज्ञानके परिणमन चलते रहते हैं। यहाँ कोई थोड़ा जानता है, कोई अधिक जानता है, कोई उससे अधिक जानता है तो ऐसी खण्ड-खण्ड जानकारियोंके कारण आत्माके ज्ञानस्वभावका खण्ड नहीं हो जाता। आत्मा तो परिपूर्ण अखण्ड ज्ञानस्वभावी है। ये खण्ड-खण्डकी जानकारियाँ बल्कि उस अखण्ड ज्ञानस्वभावका समर्थन करती हैं। विवेकी लोग समझते हैं कि इतने राग विकार की कमीपेसी के कारण ये नाना प्रकारसे खण्डरूपसे हो रहे हैं पर जिस स्वभाव से यह प्रकाश चलता है वह स्वभाव परिपूर्ण अखण्ड है।

आवरकके विघटनके अनुसार विकास होनेपर भी स्वभावकी अखण्डता जैसे सूर्यके नीचे मेघ पटल है और उस मेघ पटलके निमित्तसे सूर्यमें प्रकाश यहाँ नहीं फैल पाता अथवा उसके हट जानेके अनुसार फैलता है, इसी प्रकार आत्माके चहुँ ओर कर्मपटल है, यह कर्मपटल २ प्रकारका है। एक पौद्गलिक कर्मोंका पटल और एक रागादिक विकार कर्मोंका पटल। इन पटलोंके यहाँसे देखनेमें ज्ञानस्वभाव अवगुण्ठित हो गया है, अपने आप के भीतर ही स्वभावरूपमें समाया हुआ है, बाहर नहीं निकल पाता। सो जैसे-जैसे इन कर्मपटलोंका विघटन होता है उस प्रकारसे प्रकट होने वाले ज्ञान स्वभावोंमें भेद नहीं करता है बल्कि ये फुटकर ज्ञानभेद आत्माके ज्ञानस्वभावका समर्थन करते हैं।

स्वभावके अवलंबनमें श्रेय अब विचारिये हमें खण्ड ज्ञानपर दृष्टि देना चाहिए या अखण्ड ज्ञानस्वभावपर दृष्टि देना चाहिए। खण्ड ज्ञान परिणमनोंपर दृष्टि देनेसे कुछ हित नहीं होगा। जहाँ किसी प्रकारका भेद नहीं है ऐसा जो आत्माका स्वभावभूत परिपूर्ण जो ज्ञानस्वभाव है वही ज्ञानस्वभाव अनुभवन करनेके योग्य है। आत्माके इस ज्ञानस्वभावके आलम्बनसे ही आत्माके निज पदकी प्राप्ति होती है। बाहर चीजोंको जान-जानकर बाहरी चीजोंमें ही रमण करें तो उससे कौन-सा हित पा सकेंगे, उससे हितकी बात न मिलेगी और एक आत्मामें स्वतःसिद्ध असाधारण ज्ञानस्वभावमें उपयोग पहुँच गया तो तत्काल ही आकुलता समाप्त हो जायगी, निज पदकी प्राप्ति होगी और उससे भ्रान्ति समाप्त होगी।

निजस्वरूपकी भूलके परिणामपर एक दृष्टान्त भैया! अपना पद अपना स्वभाव न मिलने के कारण इस जीवके भ्रान्ति लगी हुई है और भ्रमके कारण यह यत्रतत्र दौड़ता है। जैसे गर्मी के दिनोंमें प्यासा हिरण रेगिस्तानकी रेतीके बीचमें खड़ा हुआ सोचता है कि कहीं पानी मिल जाय तो प्यास बुझा लें। दृष्टि पसारकर देखता है तो दूरकी चमकीली रेत पानी जैसी मालूम पड़ती है, वह दौड़ता है उस रेतमें पानीका भ्रम करके, पर जब समीप पहुँचा तो देखा कि रेत है। लो फिर गर्दन उठाया और देखा कि रेत है। लो फिर गर्दन उठाया और देखा कि आगेकी रेत पानी जैसी मालूम देती है, फिर दौड़ता है। वहाँ पहुँच कर देखता है कि पानी नहीं है, यह रेत है। पानीके भ्रममें दौड़ लगाकर अपनी प्यास बढ़ाकर अपने प्राण गंवा देता है।

निजस्वरूपकी भूलका परिणाम इसी प्रकार ये जगतके प्राणी सुखकी तलाशमें बाह्य पदार्थों पर दृष्टि दिए हुए हैं, ऐसा खाना मिले तो सुख होगा, ऐसा देखनेको मिले तो सुख होगा।

ऐसा राग सुननेको मिले तो सुख होगा। इन बाह्य पदार्थोंके सुखका भ्रम करके बाह्य अर्थोंकी प्राप्तिके लिए दौड़ लगाते हैं। दौड़ लगाते हैं और विषयोंके निकट पहुँचते हैं तो वहाँ सुख मिलता नहीं है। फिर इन्हीं विषयोंको सुखकी अभिलाषासे प्राप्त करना चाहते हैं और इसीसे पंचेन्द्रिय और मनके विषयोंको प्राप्त करनेका यत्न कर रहे हैं। इस यत्नमें उनकी तृष्णा और तीव्र होती है, दुःख और बढ़ता है और अंतमें बड़े संक्लेशसे प्राण गँवाते हैं। फिर इससे भी बुरा जातिको पा लेते हैं, ऐसे ये मोही जीव इस संसाररूपी मरुस्थलमें दौड़ लगाये फिर रहे हैं पर चैन कहीं भी नहीं मिल रही है।

बाहरमें निजपदकी खोजपर एक दृष्टान्त—एक अपना ही पद न ज्ञात हो तो भ्रमसे जगह-जगह डोलता है। एक विशिष्ट जातिका हिरण होता है जिसकी नाभिमें कस्तूरी होती है। उस कस्तूरीकी सुगंध आ रही है। वह हिरण चाहता है कि उतनी उत्तम सुगंध वाली चीजें ढेरों हमें मिलें और उनका ऐसा सुगंध लें। उसे पता नहीं कि यह सुगंध वाली चीज मेरी नाभिमें बसी हुई है तो बाहरमें जंगलोंमें दौड़ लगाकर ढूँढ़ता फिरता है। खूब ढूँढ़ता फिरता है, खूब ढूँढ़ता है, पर किसी भी जगह उसे सुगंध वाली चीज नहीं मिलती है। दौड़ लगाकर अपना व्यर्थ ही श्रम करता है। अपने आरामसे भ्रष्ट होता है।

बाहरमें निजपदकी खोजका परिणाम—इसी प्रकार निजस्वरूपमें ही तो ज्ञान और आनन्द समाया हुआ है, पर यह बोध नहीं है कि मेरा ही स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। ज्ञानी जन जानते हैं कि आत्मा और चीज है क्या? वह पकड़ने जैसी पिण्डरूप वस्तु तो है नहीं जिसे धर उठा सकें, आपके हाथमें दे सकें। ऐसा तो कुछ है नहीं। यह तो ज्ञानस्वभाव और आनन्दस्वभाव रूप विलक्षण पदार्थ है, स्वतःसिद्ध है; किन्तु है क्यों ऐसा, यह तर्क के अगोचर है। स्वभावोऽतर्कगोचरः। जो पदार्थ हैं वे अपने असाधारण स्वभावरूप हैं। पदार्थ भी अनादिसे हैं और पदार्थोंका निश्चयनयका विषयभूत असाधारण स्वभाव भी अनादिसे है। ऐसा ज्ञानानन्दस्वभाव निज आत्माका लक्षण ही है। इसी प्रकार, पर इस स्वभावका बोध न होनेसे यह जीव बाह्य पदार्थोंमें अपना ज्ञान और आनन्द ढूँढ़ता है, व्यर्थका श्रम करता है। सो इस यत्नसे यह जीव आकुलित हो रहा है।

निर्मोहताकी अभिनन्दनीयता एवं वस्तुविज्ञानकी मोक्षहेतुता—वे जीव धन्य हैं जिन्हें मोह नहीं सताता है। और जिनके आत्मकल्याणकी भावना जग रही है। वे भेदविज्ञानके बलसे बाह्य पदार्थोंका त्याग कर अपने उपयोगसे सर्व संकल्प विकल्पोंको हटाकर ज्ञानस्वभावमात्र अपने को अनुभव करते हैं उन्हें अपना पद मिल जाता है और स्वकीय पद मिल जानेसे उनका यह समस्त भ्रम समाप्त हो जाता है। भ्रम समाप्त होनेसे ही आत्मा को लाभ होगा। आत्मानुभव कहीं बाहरसे लाना नहीं है। यह स्वयं ही तो है पर इसका जो बोध न होने देने वाले विकार हैं उन विकारोंसे हटना है। आत्मा तो वही है। हमारा आत्मासे लाभ होता है। जहाँ आत्माकी उपलब्धिकी वहाँ आत्माका परिहार होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें तन्मय हैं और परस्वरूपसे अत्यन्त जुदे

हैं। इस प्रकार सब पदार्थोंको निरखो। घरमें रहने वाले उन चार-छः जीवोंको भी इस प्रकार देखो कि इनका जीव इनमें ही है, इनका ज्ञान, आनन्द सुख इनमें ही है। इनसे बाहर नहीं है। इनके शरीरसे भी इन्हें सुख-दुःख नहीं है। ये अपने शरीर तकसे भी जुड़े हैं। फिर मेरे साथ तो इनका रंच भी सम्बन्ध नहीं है, ये सब अनात्मा है अर्थात् मैं नहीं हूँ। ऐसे चेतन और अचेतन जो अनात्मतत्व हैं उन सबका परिहार हो जाता है। और जहाँ अनात्मतत्व का फंसाव मिट गया वहाँ फिर कर्म आत्माको मूर्च्छित नहीं कर सकते। जब इसमें दृढ़ ज्ञान प्रकट होता है तब आत्मा मूर्च्छित नहीं होता है। रागद्वेष मोह इसमें फिर अंकुरित नहीं होते हैं, उठते नहीं हैं। और रागद्वेष न उठे तो आस्रव भी मिटे, आस्रव मिटे तो कर्मबंध भी मिटा। फिर तो क्या है? पहिलेके बंधे हुए कर्म उपयोगमें आकर झड़ जाते हैं। और इस तरह समस्त कर्म दूर हो जानेसे इस जीवको साक्षात् मोक्ष हो जाता है।

ज्ञानकी स्वच्छ जगमगाहट—आत्मामें जो निर्मल ज्ञानगुण है उसकी जो परिणतियाँ होती हैं याने अपने अनुभवमें पाये हुए जो ज्ञानके भेद हैं वे ज्ञानकी ओरसे ज्ञानके परिणमन अत्यन्त निर्मल निकलते हैं। और वे ज्ञानके परिणमन ज्ञानमें से अपने आप उछलते हैं याने इन ज्ञानी पुरुषोंको प्रकट अनुभवमें आते हैं। उन ज्ञानकी परिणतियोंमें ऐसा विकास भरा है कि उस ज्ञानबलसे उन ज्ञानी पुरुषोंने समस्त पदार्थोंका रस पी लिया है अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायके सब मर्म वे जान चुके हैं। इस कारण वे ज्ञानकी ओरसे होने वाले ज्ञानकी शुद्ध परिणतियाँ ज्ञेयके बहुत बोझसे मतवाली हो गई है। इस तरह मत स्वच्छन्दकी तरह अपने आप ही उनमें अपने ज्ञानविकास उछलते हैं, किन्तु यह भगवान आत्मा चैतन्यरूपी समुद्रकी उठती हुई लहरोंसे एक ज्ञानविकास उछलते हैं, किन्तु यह भगवान आत्मा चैतन्यरूपी समुद्रकी उठती हुई लहरोंसे एक अभिन्न रस है, एक है। मायने ज्ञानस्वभाव तो एक है और उसकी जो परिणतियाँ हैं वे अनेक रूप होती हैं।

एकरस चैतन्य रत्नाकर—भैया! हिन्होले की तरह झिलमिलाहटके साथ जगमगरूपसे ज्ञानकी जो परिणतियाँ हैं वे परिवर्तित होती रहती हैं। ऐसा यह अद्भुत चेतन रत्नाकर है, समुद्र है। याने बहुत-से रत्नोंसे भरा हुआ समुद्र जलसे भरा हुआ है, और उस समुद्रमें निर्मल छोटी-छोटी लहरें उठती हैं तो वे सब लहरें जलसे न्यारी नहीं हैं, वे जलरूप ही हैं। इसी तरह यह आत्मज्ञानका समुद्र है सो वह एकरस है। उस ज्ञानका जो जाननभाव है वह एकस्वभाव है। किन्तु कर्मोंके विविध क्षयोपशमके निमित्तसे एक इस स्वभावभूत ज्ञानरसोंसे अनेक भेद, अनेक व्यक्तियाँ प्रकट होती रहती हैं।

वीतरागविज्ञानका निर्गल प्रसार—अथवा जहाँ कर्मोंका अत्यन्त क्षय हो गया है ऐसे प्रभु केवलज्ञानके भी ज्ञानकी व्यक्तियाँ विलास उत्कृष्ट प्रभावके साथ ज्ञेयोंके पी जानेसे मतवाली होकर एकदम निरन्तर चलती रहती हैं ऐसा यह ज्ञानविलास है। उन सब ज्ञानविलासोंका स्रोत एक अखण्ड ज्ञानस्वभाव है। ऐसा यह चैतन्यपी समुद्र विशिष्ट माहात्म्य वाला है। यह चैतन्य स्वभाव खुदमें है

और प्रभुमें देखते हैं तो उनका समस्त ज्ञानभाव एकदम स्वच्छन्द होकर उठता रहता है। ऐसा शुद्ध स्वच्छ प्रभुका परिणमन है कि इन मतवाले होनेकी तरह वह ज्ञानविकास एकदम? सर्व लोकालोकमें फैल जाता है। जैसे कहते हैं कि “सैंया भले कोतवाल अब डर काहेका” अथवा यह सोचो कि पूर्ण स्वच्छन्दता मिल गई है तो अब रुकावट किस बात की है? मेरा प्रभु तो स्वच्छन्द वीतराग है। अब मुझको किसकी रुकावट है? सो वह ज्ञान समस्त लोकालोकमें व्याप कर फैल गया है।

ज्ञानभावके आश्रयका प्रताप भैया! यह सब ज्ञानस्वभावकी ओरसे होने वाले विलासकी कथनी है। ऐसा विलास हो जाना हम सबके स्वभावमें है। पर रद्दी छोटी-छोटी चीजोंमें राग लगा लेनेसे, अटक कर लेनेसे वह समस्त चैतन्यनिधि एकदम दबी हुई है। जिसने इस चैतन्यस्वभावका परिचय किया उसके लिए यह विलास होना अत्यन्त सुगम है। अब इस ही चीजको प्रतिपक्ष रूपसे कहते हैं, इस आत्मस्वभावका जिन्हें परिचय नहीं है ऐसे पुरुष धर्मके नाम पर बड़े-बड़े दुष्कर तप भी कर लें और मोक्षकी इच्छा भी उन्हें हो, दुर्धर महाव्रत और तपस्याके भारसे जिनका शरीर क्षीण हो गया, हड्डियाँ निकल आई हों, बड़ी तपस्याएँ भी करें, पर साक्षात् मोक्षभूत तो यह ज्ञानस्वभावका आश्रय है। यह ज्ञानस्वभाव निरामय पद है। सब जगह डर है, सब जगह रोता है, शल्य है, चिंताएँ हैं, एक ज्ञानस्वभावका आश्रय हो तो न राग है, न भय है।

ज्ञानोपलब्धिमें ज्ञानकी साधकता देखो तो भैया! मोही जीव चार जीवोंको अपना मानकर उसी केन्द्रकी ममतामें पड़े हुए हैं और अपने तीनों लोककी प्रभुताको बरबाद कर रहे हैं। सो कोई दुर्धर तपस्या करके क्लेश करता है तो करे, मगर साक्षात् मोक्षभूत तो यह स्वयं सम्वेदनमें आने वाला यह ज्ञानमय निरामय पद है। इस ज्ञानको तपस्याओंसे नहीं पाया जा सकता है, जल्सा और समारोहोंसे नहीं पाया जा सकता है, यह ज्ञानगुणके द्वारा ही पाया जाता है। हम अपने ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानके स्वरूपका चिंतन करने लगें तो वह ज्ञान तुरन्त पा सकते हैं। ज्ञानगुणके बिना ज्ञानको किसी भी प्रकार कोई भी पानेके समर्थ नहीं है। यह ज्ञानस्वभाव जो सहज ही आनन्दरस कर भरा हुआ है वह इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। पर हाँ इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनकी मेरी ओर निकट गति है। उस ज्ञानस्वभावके निकट तक तो मनकी जाति है।

ज्ञानसे ज्ञानका अनुभव इस ज्ञानस्वभावमें मनकी गति नहीं है। इसने मानसिक ज्ञानमें ज्ञानस्वभावकी चर्चा तक पहुँचा दिया है और ज्ञानस्वभावकी जो विशेषताएँ हैं उनके विकल्पों तक पहुँचा दिया है। अब आगे काम कितना है कि उन विकल्पजालोंसे भी परे होकर आगे चलकर केवल ज्ञानस्वभावका अनुभव कर लें, यह अनुभव ज्ञानद्वारा साध्य है। इन्द्रियोंकी गति तो ज्ञानस्वभावकी चर्चा तकके निकट भी नहीं है पर मन की गति तो ज्ञानस्वभावकी चर्चा तक है, अब ज्ञानस्वभावको मानसिक विकल्पों द्वारा जान लिया, अब इसे यह जाननेके बाद थोड़ा कदम और बढ़ाना है कि केवल विकल्पोंको तोड़कर आगे चलकर उस ज्ञानस्वभावका अनुभव कर लिया जाय, वह अनुभव हो सकता है तो एक ज्ञानगुण द्वारा ही हो सकता है। इस ज्ञानगुणके बिना इस ज्ञानको निरामय

पदको साक्षात् मोक्षके सत्को किसी भी प्रकार कोई पानेमें समर्थ नहीं है। उस ही ज्ञानको उपायमें कुन्दकुन्दाचार्य यह गाथा कह रहे हैं:

**गाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं वि बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्हणियमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख ॥ २०५ ॥**

ज्ञानसे ही परमपदकी उपलब्धि ज्ञानगुणसे रहित होकर इस निरामय पदको बहुत श्रम करके भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस कारण हे भव्य जीव! यदि कर्मोंसे छुटकारा पानेकी चाह करते हो तो इस नियत ज्ञानपदका ज्ञान द्वारा ग्रहण करो; अर्थात् अपने ज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावके स्वरूपको जानते रहो। इस पर परमार्थ ज्ञानमें ऐसी कला है कि उस ही ज्ञानसे यह ज्ञान अनुभवमें आता है।

मोक्षका अर्थ है ज्ञानको शुद्ध बनाना। मोक्ष न किसी स्थानका नाम है और न मोक्ष किसी दूसरेका दिया हुआ कोई पदार्थ है। ज्ञानका शुद्ध रहना इसका ही नाम मोक्ष है। संसार अवस्थामें यह ज्ञान शुद्ध नहीं रह पा रहा है, कल्पनाएँ करता है। जब तक विकल्प हैं तब तक संसार है। विकल्प दूर हों और ज्ञानसे पदार्थोंको मात्र जानो बस इस ही का नाम मोक्ष है। तो उस मोक्षकी प्राप्ति कैसे होती है, उसका उपाय बतला रहे हैं। ज्ञान, ज्ञानसे मिलता है, क्रियासे ज्ञान नहीं मिलता है। तन, मन, धन, वचनकी जो चेष्टा है वह तो जड़का परिणमन है। यह यथार्थस्वरूपकी बात कह रहे हैं। इस जड़के परिणमन से इतना ही लाभ है कि जड़का अस्तित्व कायम रहा, पर ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानगुणसे ही हो सकती है।

ज्ञानीका लक्ष्य—ज्ञानी जीवपर जब रागका उदय छाता है तो क्रियाएँ उसे भी करनी पड़ती हैं और उसकी क्रियाएँ शुभ होती हैं। भगवानकी भक्ति करना, व्रत, तप करना आदि प्रवृत्तियाँ हैं पर ये समस्त शारीरिक जो प्रवृत्तियाँ हैं, ये स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं। करना सब चाहिए पापोंसे बचनेके लिए, विषयकषायोंको हटानेके लिए यह सब करना चाहिए। जो श्रावकोंके ६ कार्य बताये हैं, देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान करना, ये कर्तव्य करने चाहिए, पर इन कर्तव्योंके करते हुए भी अपने ज्ञानस्वरूपका पता भी रहना चाहिए; क्योंकि शांति जो मिलती है वह ज्ञानकी अविनाभावी है।

सुख-दुःखकी ज्ञानकलापर निर्भरता—भैया! किसी की मान लो दिल्लीमें दुकानमें हो और किसी तरहसे उसे यह पता लग जाय कि दुकानमें एक लाखकी हानि हुई, तो अब दुःखी हो रहा है। देखो यहाँ यह है दुकान या वहाँ है, चाहे किसीने झूठी ही खबर कर दी हो, पर यह यहाँ दुःखी हो रहा है और अगर ऐसी खबर आ जाय कि दुकानमें कलके माल बिकने में २ लाखका नफा हो गया, तो चाहे किसीने झूठ ही खबर करदी हो पर यह सुखी हो गया। तो धनकी न वहाँ हानि हुई, न लाभ हुआ, ज्योंका त्यों काम है पर जैसी कल्पना हो गई वैसा ही सुखी और दुःखी हो गया। इस संसारमें सुख और दुःख कल्पना पर ही निर्भर है। तो मोक्ष जैसा आनन्द भी मिलना हमारे ज्ञानपर निर्भर है। जब ज्ञान बिगड़ा हुआ होता है तब वह जीव दुःखी होता है और जब ज्ञान स्वच्छ

होता है तब यह जीव सुखी हो जाता है। इसलिए हमारा सुख-दुःख ज्ञानपर निर्भर है। हमें अपना ज्ञान सही बनानेका यत्न करना चाहिए। यदि यह ज्ञान किया कि हमारे पास खूब धन आए तो यह सोचना तो दुःखका ही कारण है।

प्रभुभक्तिमें सही उद्देश्य—भैया! प्रभुकी भक्ति हम इसलिए करते हैं कि हमारा ज्ञान सही बना रहे। हम प्रभुकी पूजा क्यों करते हैं, इसीलिए कि २३ घंटोंमें यदि हमारा मन विचलित हो गया है तो उस प्रभुके पास जाकर हम अपना उद्देश्य दृढ़ करलें। हम प्रभुके निकट जाकर पूजा, दर्शन, स्वाध्यायसे उनके गुणोंका गान करते हुए अपने उद्देश्यको सही बनाया करते हैं। और कोई पुरुष अपना उद्देश्य कुछ रखे ही नहीं यथार्थ मोक्षमार्ग का और पूजन करे तो उसके मोक्षमार्गकी कोई दिशा न मिलेगी और कहो कि परिवारके सुखी रहनेके उद्देश्यसे पूजा कर रहे हों तो और पापबंध कर रहे हैं। सांसारिक सुखको कमानेकी पूजा कर रहे हैं तो पापबंध कर रहे हैं, इसलिए उद्देश्यका सही होना यह उन्नति की जड़ है।

वृत्ति आशयकी अनुयायिका—जैसा उद्देश्य होगा वैसा ही मेरी चेष्टा होगी। तन, मन, धनकी चेष्टासे हम दूसरोंका परिणाम परख लिया करते हैं। परिणाम आँखों तो दिखता नहीं है कि अमुक मनुष्यका क्या परिणाम है, क्या भाव है? उसकी जो चेष्टा होती है उससे अनुमान होता है कि यह विशुद्ध परिणामवाला है या संक्लेश परिणामवाला है, या खुदगर्ज है या परके बिगाड़वाली भावनावाला है। ये सुख-दुःख ज्ञानकी दशापर निर्भर है। जब ज्ञान शुद्ध हो जाता है रागद्वेषसे रहित ज्ञाता द्रष्टामात्र हो जाता है उसे कहते हैं मोक्षपद। मोक्षपद ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, क्रियाकाण्डोंसे नहीं प्राप्त होता है। पर क्रियाकाण्ड क्यों किए जाते हैं कि उन क्रियाकाण्डोंमें जो शुभ परिणाम रखता है उस प्रयोग द्वारा कोई शुभ उपयोग किया जाय तो अशुभ उपयोगको काटनेके लिए शुभ क्रियाएँ की जाती हैं और उन शुभ क्रियाओंके करनेवाले इस योग्य पात्र रहते हैं कि वे मोक्ष मार्गको निभा सकें। पापोंमय रहकर कोई पुरुष मोक्षमार्गके योग्य हो सकता है क्या? पापों से पहिले दूर हो, फिर शुभसे दूर होना पड़ता है, इसलिए शुभ कामोंका निषेध नहीं है। शुभ काम तो मोक्षमार्गका रास्ता ही है। पर शुभकामसे मुझे मुक्ति मिलेगी, शुभ परिणाम ही मुझे मोक्ष पहुँचायेगा ऐसी जो श्रद्धा है वह श्रद्धा एक अटक है। मोक्ष पहुँचाने वाला तो कोई ज्ञानका यथार्थ विलास है। ज्ञानका सही परिणामन हो तो मोक्ष हो सकता है। ज्ञानकी उपलब्धि ज्ञानसे ही होती है। कितने भी बाह्य काम कर डाले जाये पर कर्मोंके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानमें ही ज्ञानका विकास है। इस कारण ज्ञानसेही ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ज्ञानशून्य तपसे आत्मसिद्धिका अभाव—बहुतसे लोग दुर्धर तप करते हैं पर यदि वे ज्ञानशून्य हों तो उन क्रियाओं और तपस्याओंसे यह आनन्दका निधान ज्ञानानुभवका पद उन्हें नहीं मिल सकता है। यह ज्ञानद्वारा ही होगा। ब्रत तपस्या क्रियाकाण्डोंका तो यह प्रताप है कि अशुभ विषयकषाय पहिले हट जायें। जिस-जिस क्षण ज्ञानमात्र आत्माकी दृष्टि होती है, सिद्ध प्रभुके

गुणगानके प्रसंगमें उन ही सरीखा मेरा स्वरूप है ऐसी दृष्टि करके जब-जब ज्ञानमात्र आत्माकी दृष्टि होती है तब-तब मेरा मोक्षमार्ग खुलता है, शांतिका उपाय मिलता है। तो ज्ञानशून्य पुरुष बहुत प्रकारके कार्य भी कर लें तो वे इस ज्ञानस्वरूप को, मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं। और इस ज्ञानस्वभावको न प्राप्त करते हुए वे प्राणी कर्मोंसे छूट भी नहीं सकते।

संसारमार्ग व मोक्षमार्गका परस्पर विरोध—रागद्वेष करना, विषयोंका परिणमन करना, ये कर्म हों और शुद्ध ज्ञान और आनन्दका अनुभव हो ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं जा सकती हैं इसी प्रकार एक उपयोगमें संसारमार्ग और मोक्षमार्ग ये दो बातें एक साथ नहीं आ सकती हैं। इस कारण कर्मोंसे मुक्ति चाहने वाले पुरुषको रागादिक विकारोंसे छूटकर केवल ज्ञानस्वरूपका आश्रय लेना चाहिए और उस ज्ञानस्वभावके आश्रयके द्वारा नियत इस पदको ग्रहण करना चाहिए, वह पद है ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूप। यह पद क्रियावोंसे, तपस्यावोंसे प्राप्त नहीं हो सकता।

सहजज्ञानकी कलासे ज्ञानकी उपलब्धि—भैया! ज्ञानपद तो सहज ज्ञानकी कलासे ही सुलभ है। ज्ञानका अनुभव करना है, अपने ज्ञानस्वरूपको जानना है। जाननमात्र, ज्योतिस्वरूप केवल उस ज्ञानका स्वरूप जानें तो उस जाननमें ज्ञानका आनन्द मिलेगा। वह आनन्द सहज ज्ञानकी कलासे ही सुलभ है। इस कारण हे जगत के प्राणियों! अपने ज्ञानकी कलाके बलसे निरन्तर इस ज्ञानका ही अर्जन कर सकनेके लिए प्रयत्नशील बने रहो। इस प्रकारसे ज्ञानस्वरूपका दर्शन हो तो अनुपम आनन्द प्रकट होता है।

लौकिक सम्पदा शांतिका अकारण—आज भी बड़े-बड़े धनिक है, वे भी क्या धनके कारण संतोषका अनुभव कर रहे हैं? इनको भी चैन नहीं है। सरकार जुदे जाल डाले हुए है। इनको लोगोंके देखनेमें सुख है और उनके पास दौड़कर लोग प्रेमके वचन बोलनेको जाते हैं, इस आशासे कि कुछ इनसे मिलेगा। वे धन देना यदि छोड़ दें तो लोग उनके पास जाना छोड़ दें, बल्कि उनको गालियाँ दें। बड़े कंजूस हैं ये, लोगोंका धन चूसकर ये धनी बने आदि अनेक गालियाँ देंगे। लोग उनके पास पहुँचते हैं और उनकी वाहवाही करते हैं। और किसीको २ लाख दे भी दिया तो वह प्रत्यक्षमें तो वाहवाही करते हैं पर परोक्षमें आलोचना करेगा। अरे दे दिया लाख-दो लाख तो क्या हुआ? कितना ही लोगोंसे धन चूसा है। तो काहेका सुख है? और मान लो कुछ लोग अच्छा भी कहें तो उनके अच्छा कहनेसे क्या लाभ होता है भैया! अपने निज सहज ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे के उपयोगसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। अतः शुद्ध ज्ञानस्वरूपके अनुभवका यत्न करो, उससे आनन्द प्रकट होता है, यही शांतिका उपाय है।

ज्ञानानुभवके स्वदकी एकरसता—एक मनुष्य गरीब है और बड़े प्रसिद्ध किसी चौबे-औबे की दुकानमें जाय और एक छंटाक पेड़ा लेकर खाय और एक पुरुष धनी है वह उसी दुकानमें आए और ४ रुपयेका एक सेर पेड़ा खाय तो उस धनीका पेट भर गया और उस गरीबका नहीं भरा, पर

स्वाद तो उस गरीबको वही मिल गया। ये वीतराग अरहंत सिद्ध बड़े आत्मा हैं, सो ये छककर आनन्द लूटते हैं, वे सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं, उनका पेट (निजक्षेत्र) आनन्दसे भर जाता है। और हम गरीब हैं, सो हम आनन्द छककर नहीं भोग पाते। पर ज्ञानस्वरूपका जब अनुभव करते हैं तो वहाँ यह झलक हो ही जाती है कि उस सत्य स्वरूपका कैसा आनन्द है जिसके बलपर हम अनन्त काल तक स्वच्छ और निर्मल रहते हैं। ज्ञानके अनुभवसे बढ़कर जगतमें कुछ वैभव नहीं है।

ज्ञानके लिये मोहियोंका अयत्न—लोग अपने परिवारके लिए मन, मन, धन, लगाते पर अपने ज्ञानके विकासके लिये जो कि अपने वास्तविक आनन्दका मार्ग बताया गया, जो संसारसे छूटनेका उपाय बताया गया उस ज्ञानके लिए न तन लगाते, न मन लगाते, न धन लगाते। कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि हमारा प्रधान उद्देश्य हो ज्ञानका, सारा तन, मन, धन लग जाय ज्ञानप्राप्तिमें और ज्ञान मिले तो कुछ नहीं लगाया और दुर्लभ लाभ लिया। मोही प्राणियोंमें तो, तन, मन, धन खूब लगाते हैं, परिवारको खुश रखनेमें मिलता क्या है सो बतलावो। मोही जीव को लुटकर जाता है, कुछ लाभ लेकर नहीं जाता है। किसी ज्ञानी पुरुषके विचारमें, उसके स्मरणमें, प्रभुके शुद्ध स्वरूपके स्मरणमें तन, मन, धन नहीं लगता है और हमारा भैया मजेमें रहे, लड़के बच्चे मजेमें रहें, ऐसा विचार करनेमें कितना तन, मन, धन लगता है? रात-दिन ऐसा ही सोचते रहते हैं।

ज्ञानोपलब्धिकी लक्ष्य आवश्यक—भैया! अगर ५०० रु० मासिककी आय है तो सारे घरके लोगों के ऊपर ही मोहमें खर्च कर देना चाहते हैं। स्त्री सज-धजकर निकले, बढ़िया-से-बढ़िया भोजन बने, बच्चोंका स्टैण्डर लोगों को ऊँचा लगे, उनके ही पीछे अपना सारा सर्वस्व लगा देते हैं और खुदके ज्ञानविकासके लिए ५०० का दसवाँ हिस्सा ५० रुपये भी नहीं लगाना चाहते। जबकि यह चाहिए कि मेरा सबकुछ ज्ञानविकासके लिए है। खानेका खर्च तो जितनेमें चलाना चाहे उतनेमें हो सकता है। गरीब आदमी, १०० रुपये मासिक आमदनी वाला जिसके खर्च १० प्राणियोंको लगा है उसका भी तो पालन-पोषण होता है।

सद्बुद्धिकी प्राप्तिमें बुद्धिमानी—बुद्धिमानी आदमी वह है जो खायाखोयामें कम खर्च करे और ज्ञानविकासकी चीजोंमें ज्यादा खर्च करे। चाहिए तो यह और जो विवेकी हैं वे ऐसा कर रहे हैं। वे चाहे किसी नगरमें रहते हों या गाँवमें रहते हों, अपने ज्ञानकी रक्षा करते रहते हैं। भैया! यह ज्ञान ही परमशरण है। इस ज्ञानविकासके बिना हमारा कहीं पूरा नहीं पड़ सकता। सो खुद प्रयत्न इस बातका करें कि खुद ज्ञानी बनें। हमारा साथी ज्ञान ही है ज्ञानकी ही निरन्तर चर्चा रहा करे। ऐसी कोशिशसे आत्माका लाभ है सो उसका ही प्रयत्न होना योग्य है।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।

एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

ज्ञानके शिवसाधकताकी सिद्धि—इससे पहिले ज्ञानगुणकी यथार्थ प्रशंसा की गई थी। जीवको मोक्षपदकी प्राप्ति अथवा निरामय पदकी प्राप्ति अर्थात् ज्ञानभावकी प्राप्ति ज्ञान-गुणके बिना नहीं हो

सकती। ज्ञानी पुरुष यद्यपि तन, मन, वचनके योग्य चेष्टा भी करते हैं पर यह भी जानते हैं कि यह जो चेष्टा है वह एक जड़ पदार्थका परिणमन है। इनमें लगाकर विषय कषाय और अशुभोपयोग इनका बचाव है, सो यह बचाव भी तन, मन, वचनकी चेष्टासे नहीं है, किन्तु तन, मन, वचनके योग्य चेष्टाका निमित्त पाकर जो अन्तरमें ज्ञानमें शुभ विकल्प उत्पन्न होते हैं उसके कारण बचाव होता रहता है पर मोक्षकी प्राप्ति तो इस शुभ अशुभ योग और उपयोगसे रहित ज्ञानस्वभावके अनुभवसे ही होती है, इसी बातको बताकर इस गाथामें एक अंतिम कर्तव्यकी बात कह रहे हैं।

ज्ञानभावमें रति—हे भव्य जनों! तुम इस ज्ञानस्वभावमें ही नित्य रत होओ और इस ज्ञानस्वभावमें ही सन्तुष्ट होओ और इस ज्ञानस्वभावके द्वारा ही तृप्त होओ। यदि ऐसा कर सके तो नियमसे तुमको उत्तम सुख प्राप्त होगा। देखो इतना ही शुद्ध आत्मा है जितना कि यह ज्ञान है। एक ज्ञानभावका लक्ष्य छोड़कर और कुछ कुछ भी आत्मामें खोजा तो आत्माका पता न पड़ेगा। इसलिए सत्य इतना ही है जितना कि यह ज्ञान है। इस कारण ऐसा निश्चय करके तुम ज्ञानमात्र भावोंमें ही सदा रतिको प्राप्त होवो।

आत्माकी ज्ञानघनता—ज्ञान ही आत्मा है, यह तो एक बतानेका शब्द है कि ज्ञान का जो पिण्ड है वह आत्मा है, पर ज्ञान तो ऐसा है नहीं जो दरीकी तरह लिपट जाय और पिण्डोला बन जाय और फिर कहो कि यह ज्ञानका पिण्ड है ऐसा तो है नहीं। इसे कहते हैं ज्ञानघन। घन उसे कहते हैं कि जिसमें दूसरी जातिका प्रवेश नहीं होता। जैसे कहते हैं ना ठोस। तो ठोसका क्या मतलब है? यह लकड़ी ठोस है अर्थात् जहाँ दूसरी चीज न हो उसे कहते हैं ठोस। दूसरी चीज न हो इसका अर्थ है कि वही-वही हो। हम लकड़ीमें और चीज संग न लगायें, केवल लकड़ी ही लकड़ी रहे तो वह घनरूप है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानघन है अर्थात् आत्मामें ज्ञान ही ज्ञान है। दूसरी चीज उसमें है ही नहीं।

बाह्यसम्बन्ध—तो यहाँ ज्ञानघन आत्मा एक पदार्थ हुआ, और पुद्गल पिण्डरूप शरीर एक पदार्थ हुआ। वह अनेक पदार्थोंका समूह है इस जीवका और शरीरपर भावोंका सम्बन्ध किम्वा कर्मोंका सम्बन्ध यह अनादिसे चला आ रहा है। इसमें परस्पर एक-दूसरे का निमित्त तो है पर उनमें यह नहीं कहा जा सकता कि सबसे पहिले क्या था? जैसे बीज और वृक्ष। बीजसे वृक्ष होता है और वृक्षसे बीज होता है। इनमें कौन-सी चीज पहिले थी सो नाम लो। आप कहेंगे बीज, तो क्या वह वृक्ष बिना हो गया? आप कहेंगे वृक्ष तो क्या वह बीज बिना हो गया? जैसे पुत्र पिताकी संतान है, प्रत्येक पुत्र पितासे उत्पन्न है। जो पिता है वह भी पितासे उत्पन्न है। कोई पिता बिना पिताका नहीं मिलेगा। तो जैसे यह सम्बन्ध अनादिसिद्ध है, बीज व वृक्षका सम्बन्ध अनादिसिद्ध है इसी प्रकार जीव और कर्मोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो जानेका भी सम्बन्ध अनादिसे है।

आत्मसत्य—आत्मा उतना ही सत्य समझो जितना कि यह ज्ञानरूप है। सति भवं सत्यम्। जो सत्में हो वह सत्य है, जो ध्रुव सत्य हो वह परमार्थ सत्य है। जब यह जीव अपनेको सत्यस्वरूप

ज्ञानमात्र नहीं पहिचानता और-और रूप पहिचानता है, जैसे कि मैं मनुष्य हूँ, मैं अमुक जातिका हूँ, अमुक पोजीशनका हूँ, अमुक कारोबारी हूँ, इतने बेटों वाला हूँ, नाना प्रकार जब अनुभव करता है तो वह अपनेको शुद्ध अनुभव न करेगा। वे सब जो अध्रुव हैं, परिणतियाँ हैं उन रूप यह अनुभव करेगा, मायारूप अनुभव करेगा। जब यह ज्ञानमात्र ही अपनेको अनुभवेगा तो यह शुद्ध अनुभवेगा। तो उतना ही शुद्ध आत्मा है जितना कि यह ज्ञान है। अर्थात् तुम मात्र ज्ञानरूप अपनेको अनुभव करो। जो जानन है, ज्ञानस्वरूप है बस यही मैं हूँ। ज्ञानमात्रमेवाहम्। तुम ज्ञानमात्रमें ही नित्य रत होवो।

ज्ञानभावमें सन्तोष—इतना ही आशीष है, सत् है, कल्याण है जितना कि यह ज्ञान है। ऐसा समझ करके तुम ज्ञानमात्र भावोंके द्वारा ही नित्य संतुष्ट होनेका प्रयत्न करो। आशीष कहते हैं कल्याणको। कहते हैं ना कि उसने आशीर्वाद दिया अर्थात् उसने 'कल्याण हो' ऐसा वचन बोला। तो कल्याण भी उतना ही है जितना कि यह ज्ञानमात्र भाव है। केवल ज्ञानमात्रकी अनुभूति होनेपर कोई संकट नहीं ठहरता है। यद्यपि यहाँ सब काम करने पड़ते हैं; क्योंकि पूर्वभवमें अपराध बहुत किए थे। उसके फलमें ये नाना विकल्प पैदा होते हैं। उन पिण्डोंसे हटनेके लिए अनेक भाव अपने उपयोगमें आते हैं, पर ज्ञानी-संतपुरुष उन सबको करते हुए भी उनसे विलग अनुभव करते हैं। जब कुछ अशुभ रागकी वेदना होती है तो कुछ विषयोंकी चेष्टा करते हैं। जब शुभ रागकी वेदना होती है तो दान, पूजा आदिक शुभ भावोंकी चेष्टा करते हैं। पर उन सब चेष्टावोंमें उनकी श्रद्धा यही है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही इसका सर्वस्व है, अन्य सब आपत्ति है।

आत्माकी ज्ञानमयता—आत्माज्ञान स्वयंज्ञान ज्ञानादन्यत्करोति किम्। आत्मा ज्ञान है और ज्ञानमात्र स्वयं है, ज्ञान आत्मासे अलग नहीं है। इस ज्ञानकी ही तन्मयतासे यह आत्मा ज्ञानमय है। आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, पदार्थ स्वयं ऐसा है, स्वभावमें युक्ति नहीं चलती। यह आत्मा ज्ञानकी परिणति के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है? हो रहा है यहाँ सब।

आत्माका परमें अकर्तृत्व—जैसे हाथ हिल रहा है। यह हाथ हिल कैसे गया, आत्मा तो आकाशवत् अमूर्त है। विशेषता इतनी है कि आकाश ज्ञानरहित है और यह ज्ञानमय है। यह ज्ञानमय अमूर्त आत्मा हाथको कैसे हिला लेता है? यह एक शंका सामने आती है। तो यह उत्तर यहाँ है कि सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका फल है। आत्मामें अपनी योग्यताके अनुसार, न जब ज्यादा ज्ञान हो, न कम ज्ञान हो, ऐसी स्थितिमें इसके कुछ इच्छा भाव होता है। सो ज्ञान तो है ज्ञानगुणका परिणमन और इच्छा है चारित्रगुणका विकृत परिणमन। पर हुआ आत्मामें। इस आत्मामें इच्छा हुई कि मैं यों बताऊँ, यों बोलूँ, यों हाथ हिलाकर समझाऊँ, ऐसी भावमय इच्छा हुई जो स्पष्ट है, शब्दोंमें तो नहीं उतरी, पर हाँ हुई इच्छा। उस इच्छाका निमित्त पाकर आत्मामें जो योग शक्ति हे प्रदेशके हिलने और कपने की, सो उस इच्छाका निमित्त पाकर योग हुआ और उस योगका निमित्त पाकर एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाले शरीरमें वायुमें संचरण हुआ। जैसी इच्छा की उस माफिक योग

हुआ, उस माफिक बात चला और जिस प्रकार वायु चली उस प्रकारसे अंग हिला। तो इस तरह निमित्तनैमित्तिक परम्परागत ये सब बातें होती हैं।

ज्ञानकी ही अनुभवनीयता—इन होती हुई बातोंमें तो एक-एक परिणतियोंपर शुद्ध दृष्टि दें तो यह दिखेगा कि आत्मपदार्थ अपने आपमें अपनी परिणतिसे परिणमता चला जा रहा है। इन ज्ञानमात्र भावोंसे परिणमते हुए इस आत्माको देखने वाले ज्ञानी पुरुष ज्ञानमात्र अनुभवसे अपनेमें शांतिको प्राप्त करते हैं। देखिए इतना ही सत्य अनुभवन करनेके योग्य है जितना कि यह ज्ञान है। ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र भावके ही द्वारा नित्यमेव तृप्त होवो। पहिले आत्मामें रति करो, फिर संतोष करो, फिर तृप्त होवो।

रति, संतोष और तृप्ति—सबसे पहिले किसी काममें झुकाव होता है और उसमें परिणाम अच्छा समझमें आये तो संतोष होता है, और पूरा-पूरा काम बन जानेपर फिर तृप्ति होती है। तृप्तिका दर्जा ऊँचा है संतोष से। संतोषके पूर्ण पा लेनेका फल है तृप्ति होना। सो इस प्रकार जब हम नित्य ही आत्मामें रत होंगे, आत्मामें संतुष्ट होंगे, आत्मामें तृप्त होंगे तो इससे अद्भुत सुख प्राप्त होगा, जो वचनों द्वारा भी नहीं कहा जा सकता। हम बड़े-बड़े साधुओंको और परमात्माको क्यों पूजते हैं कि उन्होंने ये सब बातें प्राप्त कर ली हैं। संतुष्ट हुए, तृप्त हुए और इसके फलमें उन्होंने वचनके गोचर उत्तम सुखको प्राप्त किया। यदि वैसा ही हम करें तो अद्भुत अलौकिक स्वाधीन आनन्द हमें प्राप्त होगा।

आनन्दकी उद्भूतिके साथ ही ज्ञानकी जागृति—ज्ञानानुभवके समय जो आनन्द प्राप्त होगा उसको तत्क्षण ही हम स्वयमेव देख लेंगे। दूसरोंसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। वेदान्तकी जागरीशी टीकामें एक दृष्टान्त दिया है कि एक नई बहू जिसके गर्भ रह गया सो जब नौ महीनेके करीब हो गए तो साससे कहती है कि सासूजी जब मेरे बच्चा हो तो मुझे जगा लेना। ऐसा न हो कि सोतेंमें ही बच्चा हो जाय, हमें पता ही न पड़े। तो सास कहती है बेटी घबड़ाओ नहीं, बच्चा जब पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। तो योंही जब आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव होता है तो वह आनन्दको प्रकट करता हुआ ही होता है। ज्ञानका अनुभव कर लेनेके बाद फिर यहाँ वहाँ पूछने की जरूरत नहीं रहती कि हमें आनन्द मिला या नहीं। हम स्वयं ही यह देख लेंगे कि मैं आनन्दमय हूँ और ज्ञानस्वरूप हूँ।

चिन्मात्र चिन्तामणि—देखो भैया! यह आत्मदेव स्वयं ही अचिन्त्य शक्ति वाला है। यह चिन्मात्र चिन्तामणि है। जैसे लोक प्रसिद्धि है कि चिन्तामणि रत्न मिल जाय तो जो चाहो सो मिल जायगा। अच्छा आप यह बतलावो कि किसीने पाया है चिन्तामणि रत्न? यह चिन्तामणि रत्न कैसा होता है? काला होता है कि लाल होता है कि नीला होता है? और मानलो कि कोई पथरा ऐसा मिल भी जाय कि लो चिन्तामणि है, तो क्या ऐसा हो जायगा कि जो सोचो सो हाजिर हो जाय? कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है जो हमारे हाथमें आए और जो चाहें सो मिल जाय, ऐसा कोई पुद्गल

है क्या? नहीं है। पर यह चिन्मात्र चिन्तामणि ऐसा है। चैतन्यमात्र जो आत्माका स्वरूप है यह ही चिन्तामणि है। यदि यह आत्मस्वरूप हस्तगत हो जाय तो हम जो चाहेंगे सो मिल जायगा। यह चिन्तामणि मिल जाय तो बतलावो क्या कुछ वह चाहेगा? किसीने कहा धन। अरे वह धन न चाहेगा। चैतन्यमात्रस्वरूपका चिन्तामणिरत्न मिल जाय तो उसे अलौकिक आनन्द मिल गया। उसे तो श्रद्धा ही नहीं है कि धनसे आनन्दकी किरण निकलती है, वह तो ज्ञान से शांत होना चाहता है।

इच्छाके अभावमें ही इच्छाकी पूर्ति भैया! इच्छा की पूर्ति उसको ही कहते हैं कि इच्छाका नाश हो जाय। जैसे बोरीमें गेहूँ भरते हैं और बोरी भर गई, बोरीकी पूर्ति हो गई, इस तरहसे इच्छाकी पूर्ति नहीं होती कि एक इच्छा दो इच्छा १०० इच्छा भर दें। बोरीमें गेहूँकी तरह खूब इच्छा हो गई और फिर कहो कि इच्छाकी पूर्ति हो गई तो उसे इच्छाकी पूर्ति नहीं कहते हैं। इच्छाके मिटनेका नाम इच्छाकी पूर्ति है। यह विलक्षण पूर्ति है। जैसे आशाका गड्ढा एक विलक्षण गड्ढा है जितनी आशा करते जावो, उस आशामें जितनी सम्पत्ति भरो उतना ही आशाका गड्ढा लम्बा चौड़ा होता जायगा। दुनियामें कोई गड्ढा ऐसा नहीं देखा होगा कि उसमें कुछ भरो तो वह गड्ढा और बढ़ता जाय। आशाका गड्ढा ऐसा है कि इसे जितना ही भरोगे उतना ही बड़ा होता जायगा। इसी प्रकार पूर्ति भी ऐसी विलक्षण न देखी होगी कि मिटनेका नाम पूर्ति है।

इच्छावोंके संचयमें इच्छावोंकी पूर्ति असंभव अच्छा और सोचो इच्छाके मिटनेका नाम पूर्ति है या जोड़-जोड़कर उसको भरा जानेका नाम पूर्ति है। इस गड्ढेकी पूर्ति करो मायने इस गड्ढेको खूब भर दो। चाहे यह कह लो कि गड्ढेको मिटा दो, चाहे यह कह लो कि गड्ढेकी पूर्ति कर दो। जैसे भोजन किया और भोजनमें अच्छी चीज खाई, बढ़िया रसगुल्ले वगैरह और अच्छी बढ़िया डकार आये तो कहते कि बस आज तो हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गई। उसके मायने यह है कि जो खानेकी इच्छा थी वह मिट गई। इच्छा मिटने का नाम ही इच्छाकी पूर्ति है। इच्छा हो और इसको भर दें तो पूर्ति नहीं कहलाई बल्कि और दीन हो गए। और खानेके बाद तत्काल इच्छा नहीं होती, थोड़ी देर बाद होगी। किसी-किसीके तत्काल भी हो जाती है। अभी खाया-पिया और बढ़िया सिके चना आ जाय तो एक आनेके लेकर खानेकी जगह पेटमें निकल ही आयगी तो इच्छा तत्कालमें भी हो सकती है, थोड़ी देरमें भी हो सकती है, पर जो इच्छा मिटी है उस इच्छाकी पूर्ति हो गई है।

चिन्मात्र चिन्तामणिसे सर्वसिद्धि इच्छाकी पूर्ति इस चिन्मात्र चिन्तामणि रत्नके उपयोगमें आनेपर होती है; क्योंकि चिन्मात्र, चैतन्यमात्र आत्मस्वरूप अनुभवमें आ गया तो सर्व अर्थकी सिद्धि रूप आत्माको बना लिया। सबसे बड़ी विभूति आनेपर फिर छोटी विभूति को कौन चाहता है? चैतन्य रसका निराकुल रूप स्वाद आनेपर फिर यह ज्ञानी जीव अपने को सर्वार्थसिद्धि बना लेते हैं अर्थात् सर्व अर्थोंकी सिद्धि उनके हो चुकती है।

रूढ़ और यथार्थ सर्वार्थसिद्धि सर्वार्थसिद्धि है सबसे अपार और उससे पहिले है अनुदिशविमान और उससे पहिले है नवग्रंथयकविमान। नक्शा देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रंथेयकको वैष्णव

जन बैकुण्ठ बोलते हैं कि बैकुण्ठ पहुंच गए। सो एक बार बैकुण्ठ में पहुंचे कि बहुत काल तक वहाँ बने रहते हैं और जब ईश्वरकी मर्जी होती है, संसारको खाली देखता है तो वह बैकुण्ठसे पटक देता है। ऐसा अन्य लोग कहते हैं। होता क्या है कि जो ग्रेवेयक बना है लोकके नक्शामें कंठकी जगहपर बना है वह है वही कंठ, सो बैकुण्ठ बोलो, चाहे ग्रेवेयक बोला। और बैकुण्ठ तक पहुँचनेके बाद फिर जीव गिरता है। तो बैकुण्ठ में द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्पन्न हो जाते हैं। तो वे ३१ सागर तक वहाँ रहते हैं। ३१ सागर बहुत बड़ा समय होता है। कितने ही कोड़ाकोड़ी साल उसमें आ जाते हैं। तो इतने वर्षों तक वे आनन्द लूटते रहते हैं, और जब बहुत कालके बाद उनकी आयुका क्षय होता है तो फिर वे यहीं संसारमें नीचे गिर जाते हैं; क्योंकि देव लोग जो हैं वे मरकर नीचे ही आते हैं और उससे ऊपर नहीं जाते हैं। और उससे ऊपर है अनुदिश और उससे ऊपर है सर्वार्थसिद्धि। तो वहाँ सर्वार्थसिद्धि नाम रूढ़िसे है। सर्वार्थसिद्धि यहाँ होती है कि जहाँ ज्ञानमात्रका अनुभव होता है।

चिन्मात्रके उपयोगमें सर्वसिद्धिकी पद्धति—यह अचिन्त्य शक्ति वाला आत्मदेव चिन्मात्र चिन्तामणि है और वह जिसके उपयोगमें आ जाता है वह सर्वार्थसिद्धि रूप बन जाता है। सर्वार्थसिद्धिका अर्थ है कि किसी भी प्रकारकी इच्छा न रहना। जब चिन्मात्र आनन्दसमृद्ध अनुभूत हो गया, फिर अन्य पदार्थोंके परिग्रहसे क्या प्रयोजन रहा? बाह्यपदार्थोंमें किसी प्रयोजनसे दौड़ लगानेसे न ज्ञान मिलेगा और न आनन्द मिलेगा। यदि ज्ञान मिल गया, स्वानुभव भी मिल गया, आनन्द भी मिल गया तब और परिग्रह क्या चाहिए? किसकी जरूरत है? जिसको इस विशाल आत्मस्वरूपका परिचय नहीं हो पाता, उसको ही बाहरी पदार्थोंमें लगनेकी आकांक्षा रहती है। जिसको चिन्मात्र चिन्तामणि अनुभूत हो गई उसे सर्वसिद्धि प्राप्त हो चुकी। अब अन्य परिग्रहोंसे उसे क्या प्रयोजन रहा? चिन्तामणि अर्थात् चित्स्वभाव चैतन्यके विभिन्न अनेक परिणतियोंका श्रोतभूत जो सहज आत्मस्वभाव है उसे कहते हैं चित्स्वभाव।

आत्माकी ज्ञानपरिणतिका अन्यत्र अभाव—भैया! व्यर्थ कहते हो, हमने सब कुछ देखा, बाहरमें सब कुछ देखा, क्या-क्या देखा, भींत, ईंट, पत्थर ये ना? इन्हें भी नहीं देखा। हम सदा काल अपने ज्ञेयाकार परिणमनको ही परमार्थतः जानते रहते हैं। चाहे किसी गति में हों, चाहें किसी स्थितिमें हों, पर उस ज्ञेयाकार परिणमनका जो विषय बना सो विषयों के लोभके कारण मोही परको जानने व अपना माननेकी कल्पना कर लेते हैं। अपने परिणमनको ही मैं जान पाता हूँ, ऐसे आत्मपरिचयसे तो मोही जन चूक गये और जिसका लोभ लगा है उस पदार्थमें यह झुक गया, यह बड़े खेदकी बात है। हम सदा अपनेको ही जाना करते हैं।

सर्वत्र निजके जाननकी सिद्धिमें दर्पणका दृष्टान्त—जैसे दर्पणको देखकर हम पीठ पीछेके लोगोंकी हरकतोंको बताते रहते हैं, अब यह आदमी उठा, अब उसने टांग उठाई, अब उसने हाथ उठाया। हम उस आदमीको नहीं देख रहे हैं, हम सिर्फ ऐनाको देख रहे हैं पर यह ऐना उन

आदमियोंका सन्निधान पाकर उस-उस रूपसे छायारूप परिणम रहा है, प्रतिबिम्बरूप परिणम रहा है। हम उस प्रतिबिम्बको ही देख रहे हैं और बखान कर रहे हैं उस पुरुषका। इसी प्रकार जगतके ज्ञेयपदार्थोंको विषय करके हम जान रहे हैं, केवल इस आत्मपरिणमनको, ज्ञेयाकार अवस्थाको। हम उस निजको, ज्ञेयाकार परिणमनको जानकर सर्व विश्वका बखान किया करते हैं, सो हमने और-और तो सब जाना पर जिस ज्ञानस्वभाव की व्यक्तिरूप यह ज्ञेयाकार बनता है और ये पदार्थ सब विषयभूत होते हैं, उस ज्ञानस्वभाव को हमने नहीं जाना। उस ज्ञानस्वभावकी अनुभूति होनेपर फिर यह जीव सर्व अर्थोंकी सिद्धि कर लेता है।

कृतकृत्यताका अर्थ—भगवान सिद्धको कृतकृत्य कहते हैं। कृतकृत्यका अर्थ है कि कर लिया है करने योग्य काम जिसने अर्थात् जिसने सब काम कर लिया है उसको कहते हैं कृतकृत्य। तो उन्होंने आपकी दूकान भी चला लिया है क्या? नहीं चलाया। फिर वे कृतकृत्य कैसे? अरे! कृतकृत्य तो उसे कहते हैं कि जिसने सबकुछ कर लिया। तो सब कर लेनेका अर्थ यह नहीं कि आपकी दूकान सम्हाल लिया, आपका आफिस सम्हाल लिया और सबका काम सम्हाल लिया उसे कहते हैं कृतकृत्य, यह नहीं है। कृतकृत्यका अर्थ है कि जिसे अब करनेको कुछ रहा ही नहीं।

करनेका विकल्प न होनेका संतोष—भैया! कर चुकनेका यहाँ भी अर्थ यह है कि अब करनेको कुछ रहा नहीं आप मकान बना चुके और बना चुकनेपर आप दो काम करते हैं एक तो आप धारणा बनाते हैं कि मैं कर चुका। मैं काम पूर्ण कर चुका और दूसरे एक बड़े संतोषका अनुभव करते हैं। इन दोनोंका रहस्य तो देखो कर चुकनेका तो अर्थ यह है कि अब कुछ करनेको नहीं रहा। आप मकान बना चुके इसका अर्थ यह है कि आपको मकान बनानेका काम अब नहीं रहा और काम अब नहीं रहा, इससे ही शांति का अनुभव रहता है। कुछ ईंटोंसे संतोष नहीं आ रहा है।

चिन्मात्र चिन्तामणिसे सर्व अर्थकी सिद्धि—कोई ज्ञानी संत शुद्ध ज्ञान द्वारा कुछ बाह्य कार्य किए बगैर अपने आपमें शांति पैदा करले तो यह नहीं हो सकता है क्या? हो सकता है। अपने में यथार्थ ज्ञान प्रकट करो और उस यथार्थ ज्ञानसे अपनेको संतुष्ट बनावो। उस ज्ञानसे ही अपनी तृप्ति करो। यदि ऐसा कर सके तो इससे अलौकिक सुख प्रकट होगा। स्वयं ही अनुभव करोगे दूसरोंसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। यह आत्मदेव अचिन्त्य शक्तिवान् है, चैतन्यमात्र है। यही वास्तविक चिन्तामणि है। यह प्राप्त हो गई तो सर्व कामोंकी सिद्धि हो चुकी। अब अन्य तुच्छ परिग्रहके संचयसे कुछ लाभ नहीं होता है। ऐसे सर्व वैभवसम्पन्न ज्ञानमात्रका अनुभवी ज्ञाता द्रष्टा ज्ञानी जिनेश्वरका लघुनन्दन है और वही सर्वकी शांतिका पात्र है।

ज्ञानी पुरुष परपदार्थोंका ग्रहण नहीं करते अर्थात् किसी भी परपदार्थको अपना नहीं मानते और न उन्हें रतिपूर्वक उपयोगमें ग्रहण करते हैं। इस सम्बन्धमें यहा यह प्रश्न हो रहा है कि ज्ञानी पुरुष पदपदार्थोंका ग्रहण क्यों नहीं करते? तो उसका समाधान श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु करते हैं

**को णाम भणिज्ज वुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियमं विद्याणंतो ॥ २०७ ॥**

ज्ञानीके परद्रव्यमें आत्मीयताके भ्रमका अभाव—ऐसा कौन ज्ञानी पंडित होगा जो ये परपदार्थ मेरे हैं—ऐसा कहे? ज्ञानी पंडित तो अपने आत्माको ही अपना परिग्रह जानता हुआ रहता है। अथवा इस गाथाका दूसरा अर्थ यह है कि ऐसा कौन विद्वान होगा जो अपने आपको जानता हुआ भी परपदार्थको 'यह मेरा है' इस प्रकार कहे। जब सही ज्ञान हो जाता है कि पदार्थमात्र अपने चतुष्टयसे है तो किसी भी प्रकार यह भ्रम नहीं आ सकता है कि कोई परद्रव्य मेरा है। सब दुःखोंकी खान अज्ञान है। गृहस्थ धर्ममें गृहस्थी रखें, व्यापार करें, घरमें रहें, सबकी संभाल करें पर सच्चे ज्ञानसे पीठ फेंरे रहें यह तो किसी ने नहीं बताया। सब करते जावो, घरमें करना पड़ता है, धन कमावो, आरामके साधन भी रहो, अपनी ढंग शान पोजीशनसे रहो, कुछ हानि नहीं है गृहस्थधर्ममें, किन्तु सही बात क्या है, ये दृश्यमान पदार्थ क्या है, मैं क्या हूँ, इसका सही ज्ञान बनाए रहें तो मोक्षमार्ग मिलेगा, शांति का उपाय मिलेगा। इसलिए किसी भी परिस्थितिमें हो, पर यथार्थ ज्ञानकी भावना होनी चाहिए। यथार्थ ज्ञान होनेपर फिर कभी यह मोह नहीं हो सकता कि अमुक चीज मेरी है। जैसा स्वयं यह आत्मा है तैसा अनुभवमें आ जाय फिर स्वप्नमें भी यह भ्रम नहीं हो सकता कि यह तृणमात्र भी मेरा है और जिसके परपदार्थोंमें यह भ्रम न रहे कि यह मेरा है तो उसके समान वैभवमान और उत्कृष्ट पुरुष कौन हो सकता है?

यथार्थ ज्ञान होनेपर भ्रमके होनेकी अशक्यता पर दृष्टान्त—भैया! यथार्थ ज्ञान होनेपर किसीके समझाये जानेपर भी भ्रम नहीं आ सकता है। जैसे कुछ अंधेरे उजेलेमें किसी पड़ी हुई रस्सीको किसीनेदेखा और यह भ्रम हो गया कि यह साँप है तो कल्पनामें यह बात आते ही घबड़ाहट होने लगी। अब वह दौड़ता है, चिल्लाता है, लोगोंको बुलाने लगा। उसके मारने तकका इरादा कर लिया, लाठी वगैरह तलाश किया, इतनी सब गड़बड़ियाँ कर डालीं, पर थोड़ी हिम्मत करके कुछ आगे बढ़ता है और कुछ देखता है तो ऐसा लगा कि यह तो जरा-सा हिलता-उलता नहीं है। यह साँप कैसा है? और पासमें पहुँचा तो देख लिया कि यह रस्सी है। अब उसके कुछ डर नहीं है। पास पहुँचकर उसने रस्सीको छू लिया।

इतना जाननेके बाद रस्सीको वहीं ही पड़ी रहने दिया। अब जिस जगह था उस जगह आकर बैठ गया। लो अब घबड़ाहट नहीं है, न कोई उद्यम है, न लोगोंको बुलाता है, उसका भ्रम मिट गया, सही ज्ञान हो गया। अब कोई पुरुष उससे यह कहे कि जैसे तू २ घंटा पहिले घबड़ा रहा था, लोगोंको बुला रहा था वैसा १० मिनट और करके दिखावो तो कुछ नहीं वह कर सकता है क्योंकि वे सारी चेष्टाएँ भ्रमके कारण हो रही थीं। अब भ्रम रहा नहीं तो कौन वैसी चेष्टाएँ करे। कर ही नहीं सकता है। सही ज्ञान होनेपर भ्रम की चेष्टा भी करे तो भी नहीं भ्रम कर सकता है।

वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय होनेपर भ्रम होनेकी अशक्यता—इसी प्रकार जब पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निर्णय हो गया कि प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्वमें, अपने प्रदेशों से बाहर कोई पदार्थ अपनी गुण या पर्याय कुछ भी नहीं चला सकता है। ऐसा दृढ़ निर्णय होनेपर वह गृहस्थ वही तो दुकान करता है जो पहिले करता था, जैसे घरमें रहता था वैसे ही घरमें रहता है, फिर भी इस ज्ञानी गृहस्थको चित्तमें आकुलता नहीं है। वह जानता है कि जो होता है वह ठीक है, होने दो, परका परिणामन मेरे आधीन नहीं है और पर किसी भी प्रकार परिणामे उससे मेरा सुधार-बिगाड़ नहीं है। यदि परके परिणामनको अपनी शानका साधक मान लूं तो उसमें मुझे खेद हो। पर मेरी आत्माको तो कोई जानता ही नहीं है, पहिचानता भी नहीं है। मुझे किसे शान बताना है?

निर्मोहता ही आत्माकी वास्तविक शान—मेरी शान तो असली यह है कि किसी भी परपदार्थमें भ्रम न हो, आसक्ति न हो किन्तु स्वयं जैसा हूँ वैसा ही अपने आपमें उपयोग लिए रहूँ तो उसमें ही मेरी शान है जिसके कारण सर्वसंकट दूर होते हैं। यह ज्ञानी पुरुष इसी ज्ञानके कारण परद्रव्योंको यह मेरा है नहीं कह सकता है; क्योंकि जो ज्ञानी है वह ज्ञानी ही है जो जिसका भाव है वह उसका स्व है और वही मेरा स्वामी है। स्वके स्वामीका नाम स्वामी है। आत्माका स्व धन जाननेका स्वभाव है। आत्मा स्वतंत्र है। सो यह आत्मा आत्मा का ही स्वामी है, अन्य किसी पदार्थका स्वामी नहीं है।

जीवनमें भी सदा अकेला—इस जीवनमें भी आपने खूब देख लिया होगा कि किसी दूसरेकेपर आपका अधिकारपूर्ण बर्ताव नहीं चल पाता है। जगतमें जितने जीव हैं सब अपनी अपनी कषाय लिए हुए हैं। आप जिन्हें मानते हैं कि ये मेरे हैं वे आपके रंच भी नहीं हैं। वे अपने कषायमें मग्न हैं। उनको जिस प्रकार अपने स्वार्थकी पूर्ति हो, जिस प्रकार उनका विषय साधन ठीक बन सके उस प्रकार ही वे बर्ताव करेंगे। आपके वे कुछ नहीं लगते और इसी कारण एक ही जीवपर आपका अधिकार नहीं जम सकता, क्योंकि वे हैं नहीं तुम्हारे। वे पर हैं। इन जड़ पदार्थोंपर आपका अधिकार नहीं जम सकता। रक्षा करते-करते भी वे वैभव आपके पास रहा नहीं करते हैं। कितनी ही स्थितियाँ बन जाती हैं।

परमें आत्मीयताकी मान्यतारूप उन्मत्तचेष्टा—हम आपका आत्माके अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं है; किन्तु यह मोही जीव विकल्प बनाकर, बहमी बनकर किसी भी पदार्थको अपना मान लेता है और दुःखी होता है। जैसे कोई पागल पुरुष सड़क के किनारे कुएंके निकट बैठा हो, वहाँसे मोटर निकलती है, तांगा, साईकिल निकलती है तो वे मुसाफिर अपनी मोटरसाईकिल आदि छोड़कर पानी पीने आते हैं। यह पागल चूँकि मान लेता है कि यह मोटर मेरी है, यह साईकिल मेरी है सो कुछ खुश होता है और वे लोग पानी पीकर अपनी सवारियोंपर बैठकर चले जाते हैं तब वह दुःखी होता है, हाय मेरी मोटर चली गई, हाय मेरी साईकिल चली गई, इस प्रकारकी कल्पनाएँ बनाकर वह दुःखी होता रहता है। इसी प्रकार यह मोही जीव जिस चाहे पदार्थको

यह मेरा है ऐसी कल्पना करके मौज मान लेता है और उसके वियोगमें दुःखी होता है जिसका कि अत्यन्ताभाव है।

कल्पनाके अर्थकारित्वका अभाव भैया! परद्रव्यसे रंच सम्बन्ध नहीं है, माननेभर की बात है, उनमें यह मेरा है ऐसी कल्पनाकी मान्यता कर लेता है उन सबका उसमें अत्यन्ताभाव है। जिसे आप पिता समझते हो, पुत्र समझते हो, स्त्री समझते हो रंच भी वे तुम्हारे से चिपटे नहीं हैं, बिल्कुल न्यारे हैं, जैसे कि जगतके सभी जीव न्यारे हैं। कोई सम्बन्ध हो तो बतलावो। यह वस्तुकी ओरसे बात कही जा रही है। पर कल्पनामें ऐसा बसा रखा है कि यह मेरा है, यही मेरा सर्व कुछ है। मेरा जो सर्व कुछ है वह तो ज्ञान ओर आनन्द है, उसकी तो दृष्टि नहीं करते और जिनका मुझमें अत्यन्ताभाव है उनको अपना मानते हैं। बस यह अज्ञान ही दुःख देनेवाला है, अन्यथा कुछ भी नहीं है।

भैया! हम आप संसारमें इस मनुष्यभवमें जन्मे हैं तो अब भी सभीके सभी पूरे फक्कड़ हैं। फक्कड़ मायने अकिञ्चन। मेरा कुछ नहीं है, इस प्रकारके सब हैं। चाहे करोड़पति हो, चाहे हजारपति हो, चाहे गरीब पति हो सबके सब अकिञ्चन हैं। यह आत्मा शरीर तकको भी नहीं अपना पाता तो ओरकी चर्चा ही क्या करना है? जरा समाजव्यवस्थामें मान लिया गया कि मेरा महल है, मेरा वैभव है, मेरा धन है, समाजव्यवस्थामें ऐसा मान लिया है पर वस्तुतः देखो तो मेरे आत्माका मेरे आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सब फक्कड़ हैं और इसी कारण मरनेके बाद यह फक्कड़ अकेले ही जाता है। ऐसे सबसे न्यारे ज्ञानानन्दमय प्रभुके उत्कृष्ट स्वरूपकी तरह अपना स्वरूप है। उसकी दृष्टि नहीं करते सो दुःखी हो रहे हैं।

कुछ चाहनेमें पाप कोयला हाथ भैया! जो अपने को कुछ वाला मानता है उसके हाथ कुछ नहीं लगता और जो अपनेको सबसे निराला मानता है उसको विलक्षण अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। एक सेठ जी थे वे वहमी थे, डरपोक थे। एक दिन नाई हजामत बनाने लगा। जब गलेके पास के बाल बनाने लगा तो सेठ जी कहते हैं कि देखो अच्छी तरह बनाना हम तुम्हें कुछ देंगे। जब हजामत बन गई तो सेठ जी अठन्नी देने लगे। नाई ने कहा हम अठन्नी नहीं लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। आपने कुछ देनेका वायदा किया है। ५ रुपये का नोट देने लगे, न लिया, एक मोहर देने लगे न लिया, बोला हमें तो कुछ चाहिए॥ बड़ो परेशान हो गया कि कुछ किसका नाम है, मैं कहाँसे दूँ, थक गया बेचारा। सो यों ही सहज बोल गया कि भैया! उस आलेमें दूधका गिलास रखा है जरा ला दो, कुछ पी लें। सो वह दूधका गिलास उठाने गया तो एकाएक बोला सेठजी, इसमें कुछ पड़ा है। सेठजी बोले कि अगर कुछ पड़ा है तो तू ले ले क्योंकि तू कुछको ही तो झगड़ रहा था। सो नाई ने उसे उठाया तो क्या निकला? कोयला। देखो अभी अशर्फी मिल रही थी जो ८०-६० रुपये की थी।

ज्ञातृत्वकी उदारता सो जो कुछ है यह मेरा कुछ नहीं है। अन्य पदार्थोंमें अपनी आत्मीयताकी वासना लगी है। उनसे क्या पूरा पड़ेगा? उनके फलमें पाप, कोयला, कलंक ही मिलेगा। अपना

परिणाम मलिन किया, मिथ्यात्व किया। सो ज्ञानीसंत जहाँ भी रहते हैं वे कुछ परवाह नहीं करते हैं। गृहस्थीमें कहीं कुछ बिगड़ जाय तो उसके भी वे ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं, बिगड़ गया, ठीक है, पर पदार्थ है, उसका यों परिणमन हो गया। इतना बल होता है ज्ञानीके, फिर उसके अज्ञानभाव कहाँसे आ सकता है?

जिनमार्गानुसारितामें प्रभुभक्ति—प्रभुका परमार्थसे भक्त वह है जो प्रभुके बताए हुए मार्ग पर चले। ज्ञानी पुरुषके कोई टीका नहीं लगा रहता है या उसे बाहरमें कुछ अपना आडम्बर नहीं बनाना पड़ता है, वह तो भीतरमें प्रकाशसाध्य बात है। बैठे हैं, वही शक्त है, वही स्थिति है भीतरमें एक ज्ञान बना लिया, अपने सत्यस्वरूपका भान कर लिया, लो, आनन्द मिल गया। आनन्दमय यह आत्मा स्वयं है। कहींसे आनन्द लाना नहीं है किन्तु आनन्दमें बाधा डालनेवाला जो अज्ञानजन्य विकल्प है, व्यर्थकी कल्पनाएँ हैं, जो वस्तुस्वरूप की विरोधी हैं उनको दूर करना है।

किसी एकका दूसरमें अत्यन्ताभाव—भैया! कौन किसका स्वामी है? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपका स्वामी है। वस्तुस्वरूपकी दृष्टि फल है कि वह ज्ञानी पुरुष अपना परिग्रह अपनेको ही जानता है। मेरे साथ मैं ही लगा हुआ हूँ, कोई मेरे साथ नहीं लगा है। इस कारण ये समस्त बाह्य परपदार्थ धन हो, घर हो, परिवार कुटुम्ब हो, अन्य जीव हों, ये सब मेरे कुछ नहीं हैं। मैं इनका स्वामी नहीं हूँ। इस प्रकारका अन्तरमें जाननेका नाम ही परद्रव्यका ग्रहण न करना कहलाता है। परद्रव्योंको तो अज्ञानी भी ग्रहण नहीं कर सकता। क्या ज्ञानीके अमूर्त आत्मामें एक नया पैसा भी चिपक सकता है। क्या दमड़ी छदाम भी अज्ञानी अपनेमें चिपका सकता है? नहीं। अज्ञानी भी परको ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु अज्ञानी अपनी कल्पना में ऐसा मानता है कि यह मेरा है।

परकी ममता ही परका ग्रहण—यह मेरा है ऐसे विश्वास और उपयोगको ही परका ग्रहण करना कहते हैं। सब काम वही है, बात वही है पर प्रभुकी एक बात मान लो जो उन्होंने वस्तुका स्वरूप कहा है किसी वस्तुका किसी अन्यके स्वरूपमें प्रवेश नहीं है। अपने-अपने स्वरूपास्तित्वमें रहते हुए प्रवर्तते रहते हैं। इतनी बात मान भर लो कि सारा आनन्द ही आनन्द है। तीनों लोकमें श्रेष्ठ पदार्थ यह ज्ञानस्वरूपका अवलम्बन है। जो ज्ञानस्वरूप रागद्वेष परिणामसे रहित है, जिस ज्ञानस्वरूपमें रंच भी अन्य तरंग नहीं है, जहाँ केवल जानन-जाननका ही स्वच्छ प्रकाश है, ऐसा यह ज्ञानमय मैं आत्मा स्वयं आनन्द निधान हूँ। इस प्रकारकी स्वीकृति तो कीजिए। सब संकट दूर हो जायेंगे।

संकट मात्र कल्पना—भैया! संकट क्या दूर करना है? संकट तो इस जीवके साथ ही नहीं है, किन्तु संकट जो मान रखा है वह खराबी करता है। यह जगत अनजानोंका मेला है। कोई किसीसे यहाँ परिचित नहीं है। जैसे स्वप्नमें स्वप्न देखने वाला कितनी ही चीजोंका परिचय कर लेता है, जो देखता है घर देखा, मित्र देखा जो भी वह स्वप्नमें देखता है वह उन सबको परिचित मानता है। पर क्या वास्तवमें वे परिचित हैं? नहीं। क्या उनपर उसका अधिकार है? नहीं। जैसे स्वप्नकी बातोंका परिचय केवल भ्रम माना जाता है, परिचय नहीं माना जाता है इसी प्रकार मोहकी नींदमें

जो स्वप्न आ रहा है सोच रहे हैं, जान रहे हैं, ये फलाने भैया हैं, ये अमुक मेरे हैं, इनमें हमारी शान है, इस तरहका जो भी परिचयमें मान रहे हैं वह केवल मोहकी नींदका परिचय है।

मोहनिद्राविनाशसे कल्पना संकटका विनाश—जैसे आँखें खुलनेके बाद स्वप्नका परिचय समाप्त हो जाता है इसी प्रकार आत्मज्ञान जगनके बाद यह सब परिचय समाप्त हो जाता है। जो चीज सरस लगती थी वह नीरस लगती है। जो चीज वास्तविक मालूम होती थी वह मायारूप लगती है और उसे केवल शुद्ध चित्स्वरूप ही परमार्थ लगता है। ज्ञानसे बढ़कर लोकमें कोई वैभव नहीं है। जीवनके क्षण दमादम गुजरे चले जा रहे हैं। हम सब मृत्युके निकट पहुंचते चले जा रहे हैं। समय बीतनेका और परिणाम क्या होगा? मृत्युके निकट पहुँच रहे हैं। अब करने योग्य काम क्या है सो सोचिए। धनसे, और-और संचय बढ़ानेसे क्या भला होनेको है? बुढ़ापा आयगा, मृत्युके निकट होंगे, फिर यह धन किस काम आयगा?

भैया! यह वैभव है जब तक, तब तक भी इसके द्वारा शांति नहीं मिलती है। ज्ञान जितना जिसके साथ है वह उतने ज्ञान द्वारा शांति प्राप्त कर लेता है। सो बाह्य परिग्रहोंका चितमें ममत्व न रखकर गृहस्थका कर्तव्य इतना ही है कि व्यापार कीजिए, रक्षा कीजिए पर अंतरंगमें ममता परिणाम न रखिये। जो ममता रखेगा सो वह दुःखी होगा।

रोनेका मूल कारण ममता—एक जंगलमें साधु महाराज थे। सो राजाने दर्शन किया, गर्मीके दिन थे। राजाने कहा महाराज आप गर्मीमें बड़े व्याकुल हो रहे हैं कहो तो मैं आपको एक छतरी दे जाऊँ? कहा, बहुत ठीक है, ले आना, पर नीचे तो पैर जलेंगे। राजा ने कहा, महाराज रेशमके जूते मँगवा देंगे। कहा ठीक है। पर शरीर खुला है, इसमें तो धूप की लपटें लगेंगी। तो महाराज हम अच्छे-अच्छे कपड़े बनवा देंगे। जब कपड़े हो जायेंगे, जूते हो जायेंगे, छाता हो जायगा तो पैदल चलनेमें आलस्य आयगा। तो महाराज मोटर दे देंगे और उसके खर्चके लिए ५ गाँव लगा देंगे। जब यह सब कुछ हो जायगा तो मुझे पड़गाहेगा कौन, खिलायेगा कौन? तो महाराज आपकी शादी करवा देंगे। सो स्त्री खिलायेगी और खर्चके लिए १० गाँव लगा देंगे। कहा यह भी ठीक है, पर बच्चे होंगे तो उनकी परवरिश कैसे होगी? तो ५ गाँव और लगा देंगे। और उनमेंसे कोई लड़का-लड़की मर गई सो रोना भी तो पड़ेगा। तो राजा बोला महाराज लड़का लड़की मरनेपर तो रोना तुम्हें ही पड़ेगा, हम नहीं रो सकते। हम आपको गाँवा लगा देंगे, सब काम कर देंगे, पर रोवेगा वही जिसके ममता होगी।

ममता धनसंचयका अकारण—सो भैया! इन बाह्य परिग्रहोंसे हमारा-आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जिसके ममता परिणाम है उसे क्लेश होता है और ममता परिणाम नहीं है तो क्लेश नहीं होता है। कोई यह सोचे कि ममता करेंगे तो धन बढ़ जायगा और ममता न करेंगे तो धन कैसे आयगा? सो देख लो ज्ञानी चक्रवर्ती हुए हैं उनके परमाणुमात्र भी ममता नहीं है, मगर ६ खण्डका वैभव टूट पड़ता है। ममता करनेसे क्या धनका संचय होता है? पूर्व समयमें पुण्य किया, शुभ बंध हुआ उसका फल है।

ममता आनन्दबाधिनी भैया! ममतासे अशांति बढ़ती है। सो वस्तुका यथार्थ ज्ञान करके हम-आपका कर्तव्य है कि ज्ञानता द्रष्टा रहें और करना भी पड़े कर्तव्य तो करते हुए भी यह जानें कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा हूँ। मैं मात्र ज्ञानका ही परिणमन कर रहा हूँ। किसी बाह्य पदार्थोंका मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। ऐसा ज्ञानमय अपनेको निहारें। ज्ञानको ही कर्ता, ज्ञान को ही भोक्ता, ज्ञानको ही स्वामी, ज्ञानमय ही अपने आपको देखें तो मोक्ष मार्ग बराबर चल रहा है। जो इस मार्ग पर चलेगा वह उत्कृष्ट अलौकिक आनन्दको प्राप्त करेगा।

ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि मेरा परिग्रह तो मेरा आत्मा है, अन्य कोई दूसरा पदार्थ मेरा परिग्रह नहीं है। शरीर तब भी मेरा नहीं है, फिर और मेरे कैसे होंगे? इस कारण मेरेसे अतिरिक्त जब मेरा कुछ नहीं है, मैं परद्रव्यका स्वामी नहीं हूँ, तो अब परद्रव्योंको मैंने ग्रहण नहीं किया, उसी परद्रव्यके त्यागके संकल्पको दृढ़ करने वाली गाथाको अब आचार्यदेव कहते हैं

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।

णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८ ॥

स्वसे स्वामीकी तन्मयता यदि कोई अजीव पदार्थ मेरा परिग्रह बन जाय तो उसका अर्थ यह है कि मैं अजीव हो गया। जैसे पूछे कि चौकीका मालिक कौन है? तो चौकी का मालिक वह बतावो जिससे चौकी कभी अलग न होती हो। वह मालिक कैसा कि जिससे चीज अलग हो जाय। तो चौकी का ऐसा मालिक चौकी ही है। चौकीसे चौकी जुदा नहीं हो सकती है। इसी तरह पूछा जाय कि बतलावो आत्मका स्वामी आत्मा ही है; क्योंकि यह अलग नहीं हो सकता है। जो अलग हो जाय वह मालिक नहीं है। वह झूठमूठकी कल्पनासे मालिक है। तो अजीवका स्वामी कौन होगा? अजीवका स्वामी जीव नहीं। क्योंकि जो जिसका स्वामी होता है वह उसमें तन्मय होता है। जैसे पुस्तकका स्वामी कौन? ऐसा स्वामी बतावो जिसके पास पुस्तक सदा रहती हो। कभी न छूटे। यदि पुस्तक का स्वामी मनुष्यको बतावो तो वह तो मनुष्य से छूट जायगी। तो उसका स्वामी क्या अन्य कोई हो सकता है जो उससे कभी अलग न हो तो उस पुस्तकका मालिक पुस्तक ही है। परमाणुका मालिक परमाणु ही है, पुद्गलका मालिक पुद्गल ही है।

स्वयं ही स्वयंका अधिकारी यदि मैं इस परमाणुका, अजीवका स्वामी बन जाऊँ तो मैं अजीव हो गया, क्योंकि जो जिसका स्वामी होता है वह उसमें तन्मय होता है। अच्छा मैं किसको ग्रहण करता हूँ? इस बातपर विचार करिये। मैं आत्मा हूँ अमूर्त, ज्ञानमय। तो ज्ञानमय यह अमूर्त आत्मा बाहरकी किसी चीजको क्या ग्रहण कर सकता हूँ? नहीं। किसी चीजको पकड़ भी नहीं सकता हूँ। ग्रहण करने के मायने हैं अपने स्वरूपको ले लेना। तो क्या आत्मा अपने स्वरूपमें किसी बाहरी पदार्थको ले सकता है, नहीं ले सकता है। हाथको हाथ ग्रहण किए है, घड़ीको घड़ी ग्रहण किए है, जीवको जीव ग्रहण किए है। निश्चयसे कोई पदार्थ कोई दूसरे पदार्थको ग्रहण नहीं करता।

पदार्थ उसको ही ग्रहण किए हुए है जो कभी उससे छूट नहीं सकता। तो यह आत्मा अपने आपको ग्रहण किए हुए है। किसी परपदार्थको ग्रहण किए हुए नहीं है।

परके परिहारसे आत्मसत्त्वकी रक्षा—यदि मैं परपदार्थको ग्रहण करनेमें लग जाऊँ, अजीवको ग्रहण करनेमें लग जाऊँ तो अवश्य ही यह अजीव पदार्थ मेरा स्व बने और मैं उस जीव पदार्थका स्वामी बनूँ, पर अजीवका जो स्वामी है वह अजीव ही है। सो अजीव का यदि मैं स्वामी बन गया तो मैं अजीव हो जाऊँगा। चूँकि अजीव नहीं हुआ मैं सो मैं ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा मैं ही स्वामी हूँ, स्व हूँ अजीवपना न आनेमें तो ज्ञान ही रहेगा। इस ज्ञानमय भावके कारण यह ज्ञानी जीव किसी भी परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता है, सो मैं भी किसी परपदार्थका ग्रहण करता हूँ। पूर्ण निश्चयसे यह आत्माके बहुत भीतरी मर्मकी बात कही जा रही है। मैं किसी दूसरे पदार्थको छू नहीं सकता हूँ, किसी दूसरे पदार्थको कहीं ले नहीं जा सकता हूँ, मैं किसी अन्य पदार्थका स्वामी ही नहीं हूँ। मैं तो उस पदार्थका स्वामी हूँ जो कभी मेरेसे छूटे नहीं। मेरे स्वरूपसे मेरा चैतन्यस्वरूप छूटता नहीं। इस कारण मेरा चैतन्य स्व है और मेरा मैं स्वामी हूँ।

भैया! संसारके संकटोंसे मुक्ति पा लेना कोई प्रमादमें नहीं हो सकता। उसके लिए हमारी बड़ी तैयारी होनी चाहिए कि जगतके किसी भी द्रव्यमें मुझमें कोई सम्बन्ध न दिखे, इसी बातको अब दुबारा कहते हैं कि

छिज्जहु वा भिज्जहु वा णिज्जहु वा अहव जादु विप्पलयं।

जम्हा तम्हा गच्छहु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०९ ॥

देहादिक परद्रव्यके विनाशसे आत्माके विनाशका अभाव—चाहे परपदार्थ छिद जावो, चाहे भिद जावो, कहीं जावो, वियोगको प्राप्त हो फिर भी कोई पदार्थ मेरा परिग्रह नहीं है। शरीर जीर्ण होता है तो शरीरमें जीर्ण होता है, मैं जीर्ण नहीं होता हूँ। जैसे वस्त्र यदि फटता है तो वस्त्र ही फटा, मैं फटा नहीं हो गया। वस्त्र पुराना होता है तो वस्त्र ही पुराना हुआ, मैं पुराना नहीं हुआ। वस्त्र नष्ट होता है तो मैं नष्ट नहीं हुआ, इसी प्रकार अन्य-अन्य पदार्थ कुछ भी जीर्ण हो जायें, नष्ट हो जायें तो उससे मैं जीर्ण और नष्ट नहीं होता। ज्ञानी पुरुषको बुढ़ापा आ जाय और उस वृद्धावस्थामें शरीर शिक्षित हो जाय तो शरीरके शिथिल हो जानेपर भी इस ज्ञानी पुरुषके ज्ञान जागृत रहता है। उसमें अन्तर नहीं आता है। और ऐसी शिथिल अवस्थामें भी उसके हाथ पैर नहीं चल रहे, अब बैठा भी नहीं जाता। वहाँपर भी ज्ञानी पुरुष अपनेको अशक्त, बूढ़ा, बेकाम अनुभव नहीं करता। वह जानता है कि नहीं हाथ पैर हिलते, न हिलें पर वह अपने आत्मस्वरूपको ज्ञानमात्र जानकर प्रसन्न रहता है।

यथार्थज्ञानकी संकटमोचकता—भैया! संकट जगतमें कुछ नहीं है। केवल विकल्प ही संकट है, कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय, और होगा वियोग नियम से। ऐसा कोई अनोखा नहीं है कि जिसके माँ-बाप स्त्री-पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा। और वियोगके

समयमें दुःख होगा। जिसका संयोग हुआ उसका वियोग नियम से होगा, चाहे खुद पहिले गुजर जाय, चाहें माँ बाप आदि पहिले गुजर जायें, वियोग अवश्य होता है। वियोग होता है तो हो, वे सब परपदार्थ हैं, यदि मूढ़ बुद्धि बस रही है, जगतके अन्य जीवोंमें से दो चार जीवोंको छांट लिया कि ये मेरे हैं तो उसके फलमें उसे दुःख अवश्य होता है। मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है, सो छिदो, भिदो, कोई कहीं ले जावो, अथवा नाशको प्राप्त हो, कहीं जावो तो भी मैं परपदार्थोंको ग्रहण नहीं करता। मैं सदा अपने आपके रूपमें रहता हूँ, अपनी शक्तिमें रहा करता हूँ जिस कारण परद्रव्य मेरे स्व नहीं हैं। तो मैं परद्रव्योंका स्वामी नहीं हूँ।

शान्तिका उपाय स्वानुभव भैया! जिसने स्वानुभव नहीं किया उस मनुष्यने जीवनमें कुछ नहीं किया। उस मनुष्यमें पशु-पक्षीसे कोई विशेषता नहीं है; क्योंकि जनम मरण बराबर ही चल रहे हैं। मनुष्यकी विशेषता तो स्वानुभवके जगनेमें है। जिस भवमें स्वानुभव हो वह भव सफल है। स्वानुभव तब हो सकता है जब सबसे निराला अपनेको निरखें। अपनेको अन्य वस्तुओंमें तन्मय देखें और स्वानुभवकी आशा करें तो यह नहीं हो सकता है। मुक्ति चाहिए, अनन्त आनन्द चाहिए तो उस अनन्त आनन्दका उपाय यह है कि अपनेको सबसे न्यारा अपने स्वरूप मात्र देखें। परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है और स्वामी है। मेरा मैं ही स्व हूँ और मेरे में ही स्वामी हूँ। मैं इस प्रकार जानूँ।

शुद्धात्मभावना देखिए धर्मके सम्बन्धमें पदके अनुसार अनेक तरहके वर्णन होते हैं। गृहस्थ धर्ममें गृहस्थको कैसे चलना चाहिए? उनके व्यवहारका वर्णन होता है। कैसा परिवारसे व्यवहार रखें, कैसे अर्थ व्यवस्था करें, कैसे जनतासे सम्बन्ध रखें, यही गृहस्थका धर्म है। और जब मंदिरमें आते हैं और प्रभुके समक्ष दर्शन, गुणगान करते हैं उस समय केवल आत्माके धर्मकी बातें होनी चाहिए। वहाँ व्यवहार धर्म, गृहस्थ धर्म, जनताकी बातें, परोपकारके अभिप्राय ये सब वहाँ नहीं होना है। वहाँ तो जैसा चैतन्यस्वरूप प्रभुका है वैसा अपने आपको निरखो। और आत्माके देखनेमें जैसी अपनी वृत्ति जगे वैसा अभिप्राय बनावो। हे प्रभो! जैसे आप स्वयं हैं, एकाकी हैं, अपने स्वरूपमात्र हैं ऐसा ही मैं स्वयं हूँ, एकाकी हूँ, अपने स्वरूपमात्र हूँ। मुझ में और आपमें परिणमना का जरून अन्तर है पर स्वभावदृष्टिसे देखता हूँ तो जो द्रव्य आप हैं वही द्रव्य मैं हूँ। इस तरह अपने आत्माको प्रभुके स्वरूपके समान निरखते जायें।

मेरा सर्वस्व मुझसे बाहर नहीं भैया! अपनेको केवल पवित्र निरखना है कि जहाँ केवल ही मैं दीखूँ। मेरे उपयोगमें कोई दूसरी चीज न आए। ऐसी दृष्टि बनानेका प्रयत्न करना होता है और यह ही उत्कृष्ट धर्मका धारण करना कहलाता है। यहाँ ज्ञानी जीव सोच रहा है कि मेरा कौन मालिक है? मेरा मैं ही स्वामी हूँ, मैं किसी अन्य पदार्थका कुछ नहीं कर सकता हूँ। मेरे प्रदेशोंसे बाहर मेरी गति ही नहीं है। मैं किसी अन्य द्रव्यको छू भी नहीं सकता हूँ। मेरे एक क्षेत्रावगाहमें जो-जो भी पदार्थ पड़े हुए हैं उन पदार्थोंको छू भी नहीं रहा हूँ। मैं केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। मैं किसी अन्यका कुछ न करता हूँ और न भोक्ता हूँ। जैसे मोटे रूपसे समझ लो कि पचेन्द्रियके भोग भोगे तो यह बतलावो

कि भोगों का तुमने क्या बिगाड़ किया? वे जीव पुद्गल हैं, वे किसी भी अवस्थामें आ गए, आ गए, वहाँ कुछ बिगाड़ नहीं हुआ। बिगाड़ तो इस जीवका हो गया। तो इस जीवने भोग क्या भोगा, यह जीव खुद भुग गया। बरबाद जीव ही होता है भोग नहीं बरबाद होता है।

ज्ञानीकी विविक्तता—भैया! भोगोंका विकल्प करके अपने आपको यह जीव भोगता रहता है। मैं किसी भी परपदार्थका भोक्ता नहीं हूँ। तब मैं सबसे अत्यन्त निराला ही हुआ ना। ऐसा सबसे विविक्त केवल चैतन्यमात्र जाननस्वरूप अपने आपकी दृष्टिमें यह जीव रहे तब इसको स्वानुभव प्रकट होता है। यही तो बड़ा संकट है जीवपर कि अपने आपके वैभव को तो यह निरख नहीं सकता है और बाह्य अनेक वैभवोंको यह निरखा करता है, किन्तु ज्ञानी जीव स्पष्ट यह देख रहा है, समझ रहा है कि मैं न किसीका स्वामी हूँ, न कर्त्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, न अधिकारी हूँ, न करानेवाला हूँ। जो कुछ हूँ अपने आपमें हूँ, और जो कुछ कर पाता हूँ अपने आपमें ही कर पाता हूँ। इस प्रकारसे यह ज्ञानी जीव समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है।

अंतरङ्ग त्याग—जैसे मरते समय कोई मनुष्य शिथिल होनेके कारण कपड़ोंको अलग नहीं हटा सकता, खाटको अलग नहीं हटा सकता और अपने आपमें ही अपनेको सबसे न्यारा जानकर यह संकल्प कर लेता है कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा मात्र मैं ही हूँ, उसने अंतरंगमें सबको त्याग दिया। आपने चरित्र पढ़ा होगा कि जब राजा मधु संग्राममें युद्ध कर रहे थे, उसे युद्ध करते हुएमें वैराग्य आ गया। इतना अवसर न मिला कि वह हाथीसे उतरे और कपड़ोंको त्यागे और साधु ब्रत अंगीकार करे। तो वहीं हाथी पर चढ़े ही सकल संन्यासका संकल्प कर लेता है और परमसमता भावमें आ जाता है और वहीं समाधि ग्रहण कर लेता है।

विभावके नोकर्मका परिहार—सो भैया! त्याग तो असली ज्ञानसे हुआ करता है, बाहरी त्यागको परमार्थतः त्याग नहीं कहते हैं पर बाहरी त्याग हमारे अंतरंग त्यागका साधक है क्योंकि हमारे विकल्पोंका आश्रय है बाहरी पदार्थ। पदार्थ छोड़ा तो राग करनेका सहारा नहीं रहा, इसलिए राग मिट जायगा। ऐसा सहकारी कारण है बाहरी त्याग। पर त्याग नाम तो अंतरंगमें सर्व परभावोंसे अपेक्षा करनेका नाम है। एक ज्ञानमय आत्मस्वभावको ग्रहण करो, समस्त परपदार्थोंको त्याग करना रूप यही है वास्तविक त्याग। गृहस्थ जनोंको २४ घंटेमें ५, ७, १० मिनट कभी समस्त परपदार्थोंके त्यागकी भावना अवश्य बनना चाहिए। और बाकी जो तेइस, पौने चौबीस घंटेका समय व्यतीत होगा उसमें निराकुलता रहेगी। संकट और कुछ नहीं हैं, केवल माननेके संकट हैं। जहाँ मानना छोड़ा वहाँ संकट छूट गया। तो लो संकटोंसे मुक्त ज्ञानमात्र अपने स्वभावको ग्रहण करनेका नाम ही परवस्तुवोंका त्याग करना है। सो यह सारा परिग्रह स्व और परके अविवेकका कारण है। इसको यह जीव त्यागता है और शेष बचा हुआ जो कुछ रागादिक अज्ञानभाव है उसे छोड़ने का साहस करके, बार-बार फिर अंतरंग विकल्प परिग्रहको दूर करनेकेलिए यह तैयार होता है। बाहरी परिग्रह को छोड़ दिया और अंतरमें परिग्रहके त्यागका अभाव हो गया। अब बचा हुआ जो कुछ रागभाव

है उसे दूर करनेका यह ज्ञानी जीव यत्न करता है। हम आप सब लोगोंके करनेके लिए काम यह है कि अज्ञानका त्याग करें और ज्ञानका आदर करें।

**अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो गाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्रहो हु धम्मस्स जाणओ तेण सो होई ॥ २१० ॥**

ज्ञानीके इच्छाका अभाव—जो इच्छारहित है उसे अपरिग्रही कहा गया है। वास्तव में इच्छाका नाम ही परिग्रह है। आत्मासे क्या चिपटा हुआ है धन वैभव? वह तो अत्यन्त दूर है। शरीर भी आत्माके स्वरूपसे अलग है, प्रदेशोंके क्षेत्रसे अलग है। तो आत्माको परिग्रही नहीं कहा जा सकता। इच्छाको ही परिग्रह कहते हैं। ज्ञानी जीव किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रखता है। इच्छामें चार चीजें आती हैं पुण्य, पाप, खाना, पीना। पुण्य पापमें तो सब भाव आ गए और खाना पीना लोकव्यवहारमें मुख्य है। सो खाना पीनाकी बात आ गई है। इन सबमें ज्ञानके इच्छाका अभाव है।

पुण्यका विवरण—ज्ञानी जीव पुण्यके सम्बन्धमें यह जानता है कि पुण्य २ प्रकारके होते हैं। एक जीव पुण्य और एक अजीव पुण्य। जीव पुण्य तो जीवका शुभभाव है और अजीव पुण्य पुद्गल कार्माणवर्गणावोंमें जो पुण्य कर्म है वह है। ये दोनों प्रकारके भाव मेरे स्वरूपसे पृथक् हैं। कार्माणवर्गणावोंमें जो पुण्यकर्म है वह तो प्रकट अजीव है, पौद्गलिक है और विकारमें जो पुण्य भाव है वह भी क्षणिक है, पर्याय है, औपाधिक है, आत्माके स्वरूपसे विपरीत है। जैसे पूजा, भक्ति, दान, पुण्य, परोपकार, सेवा ये सभी पुण्यभाव कहलाते हैं। पर परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो ये जीवके स्वरूप नहीं हैं। यदि ये जीवके स्वरूप होते तो सिद्धमें भी पाये जाते। पर सिद्ध महाराजमें तो यहाँ कोई प्रवृत्ति नहीं है। जो सिद्ध महाराजमें पाया जाय वह तो है जीवका स्वरूप और जो वहाँ न पाया जावे वह जीव का स्वरूप नहीं है। इस कारण जीव पुण्यकर्मको भी नहीं चाहता।

ज्ञानी पुण्यका अपरिग्रही—ज्ञानी जीवके जब तक राग शेष है तब तक पुण्य बनता है। पुण्य बनेगा, पर पुण्यको वह चाहता नहीं है। चाहता है वह ज्ञानभावको। जिस पर दृष्टि रहे, जिसका आलम्बन करे, आश्रम रहे उसका चाहना कहलाता है। तो जब पुण्यका भी परिग्रह नहीं रहा तो यह पुण्यका अपरिग्रही कहलाया। यह जीव पुण्यका ज्ञायक होता है पर पुण्यका यह परिग्रही नहीं होता, रागी नहीं होता। इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसको परिग्रह नहीं कहा जा सकता। एक चक्रवर्ती ६ खण्डकी विभूति वाला, जो हो सम्यग्दृष्टि, तो वह विभूतिमें इच्छा नहीं रखता। विभूति है पर इच्छा नहीं है। जो इच्छा रखे वह दीन है और जो इच्छा न रखे वह अमीर है। आत्मा इच्छासे कुण्ठित बनता है। इच्छा जिसके नहीं है उसे परिग्रही नहीं कहा जा सकता।

इच्छाकी अज्ञानमयता—इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानी जीवके नहीं होता। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। जब ज्ञानीके अज्ञानमय भाव नहीं रहा और अज्ञानमय भावकी इच्छा न रही तो वह पुण्यको भी नहीं चाहता। तारीफ तो तब है जब पुण्य बने और पाप चढ़े ना। पुण्यके चाहनेसे पुण्य बननेको नहीं है, कोई भगवानकी भक्ति इस दृष्टिको लेकर करे कि हे प्रभो!

मेरे खूब पुण्य बने, ऐसी आशासे पूजा किया तो एक रत्ती भी पुण्य न बनेगा। और यदि कोई एक चित्स्वरूपके अनुरागवश भगवानके गुण रुचते हैं इसलिए भगवानके गुणोंपर मुग्ध है और गान करता है, पुण्यका विकल्प नहीं करता है उसके पुण्य बनता है। अनुराग इच्छा है।

ज्ञानीकी निर्मल दृष्टि—कदाचित् अनुराग ज्ञानीके होता है, पर वह अनुरागसे अनुराग नहीं करता। ऐसा अनुराग मेरे सदाकाल रहे ऐसा भाव ज्ञानीके नहीं होता। वह तो पूजा कर चुकनेके बाद अपना भाव स्पष्ट करता है कि हे प्रभो! आपके चरणोंमें मेरा मस्तक तब तक रहे जब तक कि मुझे मोक्ष न प्राप्त हो जाय। ऐसी बात कहकर जाता है। अभी और कोई धनी ऐसा सुन किसी गरीबके मुखसे। गरीब यह कहे कि तुम्हारे पास तब तक आते हैं जब तक हमारा स्वार्थ पूरा न हो जाय, तो धनी पर क्या असर पड़ेगा? पर भगवान तो वीतराग है, उसे जो चाहे कहो, पर भगवानकी जगहपर कोई दूसरा धनी हो, रपट मारे। कहता है कि हमारा मस्तक तब तक तुम्हारे चरणोंमें रहे जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाय। यह ज्ञानी बहुत निर्मल परिणाम प्रकट कर रहा है।

अनुरागमें अनुरागका अभाव—जैन सिद्धान्तमें तो सर्वत्र ज्ञानका महत्व है। भक्ति करें तो, सामायिक करें तो, कुछ करें तो सर्वत्र ज्ञानकी महिमा है। वह यथार्थ बात कह रहा है। उसकी दृष्टि अंधकारमें नहीं है। वह जानता है कि मोक्ष प्राप्त होनेपर भगवानका अनुराग रह ही नहीं सकता है। ज्ञानीके अनुराग तो होता है पर अनुरागका अनुराग नहीं होता है। जैसे फोड़ा हो जाय तो कैसा प्रेमसे उसपर हाथ फेरते हैं, पका है कि नहीं, जोर से न लग जाय, उस फोड़ेको कितना प्रेमसे स्पर्श हो रहा है? कैसी विलक्षण बात है? इसी तरह ये सब फोड़ा हैं आत्माके शुभभाव और अशुभभाव, तो इसमें संतजन अपनी वेदनाका प्रतिकार करते हैं। ढंगसे औषधि करना, सब करना, किन्तु उन बातोंमें अनुराग नहीं है।

ध्रुव निजका आश्रय—बीमार हो जानेपर कितना वह अनुराग करता है बढिया पलंग हो, साफ बड़ा कमरा हो, कमरेमें सुगंध आये, यह सब है पर उसका किसी चीजमें अनुराग नहीं है। वह तो चाहता है कि जल्दी ही ठीक होऊँ और २-४ मीलका चक्कर लगाऊँ। यह ज्ञानी जीव पुण्यको भी नहीं चाहता, क्योंकि ज्ञानी जीवकी दृष्टि शुद्ध ज्ञानस्वभावपर है। आश्रय करो तो अपने आपका करो। परायेका आश्रय करनेसे तो कुछ लाभ न मिलेगा। और जो मिट जाय उसका आश्रय करनेसे कुछ लाभ न मिलेगा। जो अविनाशी हो और निज हो उसका अनुराग करो, बस इसी बातको देख लो। ध्रुव हो और निज हो उसको पकड़कर रह जावो तो संसारसे पार हो जावोगे।

परके आश्रयमें अशरणता—यद्यपि परपदार्थ भी सब ध्रुव हैं उनकी परिणति अध्रुव है। तो अध्रुव परिणतिका आलम्बन लेनेसे कुछ नहीं है; क्योंकि वह मिट जायगा और परपदार्थोंमें जो उनका स्वभाव है वह ध्रुव है, किन्तु पर है। तो परका आलम्बन लेनेसे उपयोग स्थिर नहीं रह सकता। उपयोग बहिर्मुख रहेगा। तो यद्यपि पर ध्रुव है; किन्तु पर ध्रुवमें हम दृष्टि दें तो हमारी दृष्टि बहिर्मुख होगी। अपने आत्मप्रदेशोंसे हटकर किसी बाह्यकी ओर लग गए तो बहिर्मुख दशामें जीवको

अनाकुलता मिलती नहीं, सो बाह्य पदार्थ ध्रुव हों उसका भी आश्रय इस जीवका शरण नहीं बन सकता। जो ध्रुव और निज हो उसकी श्रद्धा करो। वह है अपनी चैतन्यशक्ति, ज्ञानशक्ति उसकी ही श्रद्धा करनेमें इस जीव को शांति प्राप्त होगी।

सुख-दुःख पुण्य-पाप शुभाशुभ भावकी अनाश्रयता—जैसे कि सुख-दुःखकी अवस्था जीवकी ध्रुव नहीं है, इसी प्रकार सुख-दुःखका कारणभूत जो पुण्य और पापकर्म है, पौद्गलिक है, ध्रुव नहीं है और पुण्य पापके कारणभूत जो शुभोपयोग और अशुभोपयोग है वह भी ध्रुव नहीं है। सुख-दुःख असलमें कहते उसे हैं जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे। ख मायने इन्द्रिय और सु मायने सुहावना। अर्थात् जो इन्द्रियोंको अच्छा लगे उसे सुख कहते हैं। और जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे उसे दुःख कहते हैं। देखो सिद्ध भगवानके सुखको कहीं-कहीं सुख शब्दसे कह दिया है जैसे अनन्त सुख। पर इन्द्रियजन्य सुखका परिचय रखने वाले मनुष्योंको समझानेका उपाय उन्हींके शब्दोंमें कहना आचार्योंने ठीक समझा और कहा; किन्तु परमार्थ जो उनमें सुख है उसको आनन्द शब्दसे ही कहना चाहिए। आनन्द शुद्ध होता है, सुख विकृत होता है। भगवानके अनन्त आनन्द है, अनन्त सुख नहीं है। सुख होता है इन्द्रियोंसे और आनन्द होता है स्वाधीन।

त्रैकालिक आनन्द गुण—जैसे आत्माका ज्ञानगुण है, शुद्ध है, सत्य है, चारित्र्य है, इसी प्रकार एक आनन्द नामका गुण है और जिस ज्ञानगुणके पर्यायें हैं मति, श्रुति, अवधि, आदिक श्रद्धा गुणके सम्यक्त्व मार्गणावोंकी पर्यायें हैं, चारित्र्यगुणकी कषाय मार्गणापर्याय है, इसी प्रकार आनन्दगुणके तीन पर्यायें होती हैं आनन्द, सुख और दुःख।

आनन्द परिणमन—आनन्दगुणकी जो आनन्द नामक पर्याय है वह तो है स्वभावपर्याय और अविनाशी है, पर परमार्थसे आनन्दपर्याय अविनाशी नहीं है। वह क्षण-क्षणमें नष्ट होती है। भगवानका जो आनन्द है वह क्षण-क्षणमें नष्ट होता है, पर तारीफ वहां यह है कि आनन्द नष्ट होकर दूसरे क्षणमें वही आनन्द प्रकट होता है, तीसरी क्षणमें वैसा ही आनन्द फिर प्रकट होता है। जैसे केवलज्ञान क्षणिक है, ज्ञानकी पर्याय है, पर केवल ज्ञान क्षणभरमें होकर नष्ट होकर दूसरी क्षणमें वैसा ही केवलज्ञान होता है तो प्रत्येक क्षण में वैसा ही वैसा केवलज्ञान होता रहता है। जैसे बिजली जलती है, २ घंटा बिजली जली तो देखनेमें ऐसा लगता है कि इस बिजलीने क्या काम कुछ नहीं किया? जो काम २ घंटा पहिले किया वही काम अब कर रही है। पर वस्तुतः देखो तो वह बिजली प्रति सेकेण्ड नया-नया काम कर रही है। जो प्रकाश उसने दो घंटे किया उसमें प्रति मिनटमें जो प्रकाश किया वह अपने अपने मिनटका पावर लेकर किया। वहाँ दिखता ऐसा है कि वह बिजली वहीं काम कर रही है, किन्तु एक घंटा पहिले जो किया वही बादमें नहीं कर रही है। ऐसा न हो तो यह पावरकी यूनिट कैसे अधिक खर्च हो जाती है? नया परिणमन चल रहा है।

आनन्दपरिणमनका अपूर्व-अपूर्व होते रहनेका दृष्टान्तपूर्वक प्रकाशन—जैसे कोई पल्लेदार है वह दस सेर कोई सामान लिए खड़ा रहे तो मोटे रूपमें यह कह देंगे कि घंटेभर पहिले जो काम

किया वही काम कर रहा है पर वह तो प्रति पल अपना नया-नया काम कर रहा है, नई शक्ति लग रही है। तो जैसे प्रति पल नया काम कर रहा है, नई शक्ति लग रही है तथा जिस प्रकार केवलज्ञानी ज्ञानावरणादिकका क्षय होनेपर जैसा तीन लोक को जाना वैसा ही वह प्रतिक्षण जानता रहता है और प्रतिक्षण नई शक्ति वह लगाता है। इसी प्रकार आनन्दपर्यायकी भी बात है कि भगवानके प्रति समय नवीन-नवीन शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। आनन्द नामकी शक्तिकी तीन पर्यायें हैं आनन्द, सुख और दुःख। आनन्द तो शुद्ध पर्याय है, उसका निरन्तर सदृशपरिणमन होता रहता है। सुख और दुःख अशुद्ध पर्याय है।

सुखके लगावका फल—पुण्यके उदयमें आनन्द नहीं मिलता, सुख मिलता है। उस सुखके लोभमें ऐसा पाप बनता है कि जितना सुख भोगा उससे दूना दुःख मिलेगा। जैसे किसी पुरुषसे प्रेम हुआ तो संयोगके समयमें जितना सुख माना, वियोगके समयमें सारी सुख की कसर निकल जाती है। जो आगामी कालमें वियोगका दुःख भोगना न चाहे, वह अभी से संयोगमें सुख न माने। वह भविष्यमें वियोगके समय दुःख नहीं मान सकता है।

गृहस्थके दो तप—भैया! दो तप हैं गृहस्थके। प्रत्येक गृहस्थको ये दो तप तो करना ही चाहिए। गृहस्थका एक तप तो यह है कि जितनी आय हो उतनेमें ही अपनी सब व्यवस्था बना लें। खान, पान, दान सब कुछ उसीमें कर लें और दूसरा तप उसका यह है कि यह ध्यान रखें कि जो कुछ समागम आज मिला हुआ है वह चाहे जीवका समागम हो, और चाहे वैभवका समागम हो, यह समागम सदा यहीं रहनेका है ऐसा ख्याल बनाए रहें। ये दो तप गृहस्थ करते रहे तो फिर वे दुःखी नहीं हो सकते। यद्यपि ये दोनों तप कठिन मालूम होते हैं किन्तु निगाह बन जाय तो सरल मालूम होता है। निगाह ही तो बनाना है। सत्संग हमारा बहुत काल तक रहे, सदगोष्ठी रहे, ऐसी बातें सुननेको मिलें, बोलनेको मिलें और उत्तम पुरुषोंका ज्ञानका समागम अधिक हो तो निगाह बनती है। हम मोही जीवोंमें ही बस-बसकर अज्ञानी, बेढ़ब, देहाती जैसा चाहे जीवोंके संगमें समय गुजारें तो वहाँ आत्मा को सम्हालना कठिन होता है।

गृहमें ज्ञानके वातावरणकी उपयोगिता—भैया! तात्विक वातावरण कौन-सी बड़ी बात है, घरमें ४ आदमी समझदार हों तो चारों मिलकर यह चर्चा घरमें कर लें कि देखो शास्त्रमें यह सुन आए हैं कि गृहस्थ इन दो तपोंको यदि करें तो सुखी हो सकते हैं। तुम्हें पसंद है कि नहीं? और तुम्हारे हृदयमें यथार्थ बात बैठी है कि नहीं? न बैठी हो तो फिर चर्चा करो जब घरके चार जीवोंमें यह ज्ञान बैठ जाय तो फिर बादमें यह तप करना बहुत सुगम हो जायगा। करो चर्चा। जो शान्ति और आनन्दका मार्ग है उस मार्ग की चर्चा करियेगा। जिनसे आपका विशेष राग है उनको धर्मात्मा बनावो। शास्त्र बताते हैं क स्त्रीको भी और पुत्रोंको गृहस्थीमें ज्ञानी रहना चाहिये। तब बूढ़ोंका, बुजुर्गोंका निर्वह धर्मपूर्वक हो सकता है।

ज्ञानी गृहस्थकी अन्तर्वाह्यवृत्ति—जिस गृहस्थके ज्ञानीके उपयोगमें यह सिद्ध हो गया कि जितने भी समागम हैं ये सब बिछुड़ने वाले हैं। और आज अमुक समागम मिला और यह न मिलता और कोई जीव घरमें आता जिसको तुम आज पराया मान रहे हो वह ही मरकर यदि घरमें आकर बच्चा बन जाय तो जिसे आप आप पराया मानते थे उसमें मोह करने लगते हैं। और पदार्थ तो वही है जो पहिले था, जीव तो दूसरा नहीं है तो फिर अपना पराया कौन है। अधिक इस ओर गृहस्थको नहीं लगाना चाहिए कि यह गैर है, यह पर है। जितना खर्च अपने कुटुम्बपर होता है औरों पर उससे आधा खर्च तो कमसे कम करो। यदि नहीं बचत है तो घरकी बजट कम कर दो, पर कुछ न कुछ दूसरोंके उपयोगमें, सेवामें धन लगाना ही चाहिए। अन्यथा वह धन प्रबल हो जायगा और धर्म गौण हो जायगा।

कल्याणमार्गकी शीघ्रकरणीयता—भैया! पहिलेसे ही यदि समागममें मोह न रखो तो अंतिम क्षण अच्छे रहते हैं। परीक्षाफल समाधिमरण है। जिन्दगीका परीक्षाफल है समाधिमरण। जीवनभर यदि विचार अच्छे रखो तो समाधिमरण हो सकता है। कोई सोचे कि अभी बहुत दिन हैं, मरण काल बहुत दिन बादमें आयगा, अभी चैनसे रहें, फिर सुधार लेंगे तो कठिन काम है। धर्मकार्यके लिए तो सोचने लगते हैं कि “आज करें सो काल कर, काल करो सो परसों। जल्दी-जल्दी क्या पड़ी है, अभी तो जीना बरसों॥” पर कहना व करना क्या चाहिए कि काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। पलमें परलय होयगी बहुरि करोगे कबा॥” ज्ञानी जीव इन सब समागमोंको अहित और विनाशीक जानते हैं। ये सब पुण्यके फल हैं। यदि पुण्यकर्मसे ये समागम भी जुड़ जायें तो यह ज्ञानी जीव उन समागमोंको नहीं चाहता है।

ज्ञानीकी विशुद्ध वृत्ति—ज्ञानीकी प्रवृत्ति कितनी विशुद्ध है? ये पुण्यकर्म बंध जाया करते हैं, बंध जावो पर चाह करोगे तो फंस जावोगे। सो ज्ञानी जीवके पुण्यका परिग्रह नहीं होता। इससे शुद्ध तो है धर्म। धर्मका अर्थ है पुण्य। परिग्रह उसके नहीं है, किन्तु ज्ञानमय जो एक भाव है उसका ही सद्भाव होनेसे यह जीव पुण्यका केवल ज्ञायक ही रहता है, पुण्य का अभिलाषी नहीं रहता है, यह तो बताया है गृहस्थ पुरुषोंकी तपस्या। अपने आपमें ही व्यवस्था बनें और समागमको विनाशीक मानें।

ज्ञानीका सर्वोत्कृष्ट तप—भैया! एक तीसरा यह तप और भी यदि प्रकट हो जाय तो और उत्कृष्टता है। जिस जीवको देखो उस जीवकी शकल सूरत पर्यायमें दृष्टि न अटक कर उन जीवोंमें रहने वाले शुद्ध चैतन्यस्वरूपका ध्यान करो। और उस चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें करके सबको मान लें। यह उन दो से भी श्रेष्ठ तप हैं उन दो को तो जबरदस्ती किया भी जा सकता है। आपकी व्यवस्था हर एक कर सकता है और समागमको विनाशीक यह एक बहुत बड़ी तपस्या है। इसमें तो ज्ञानबल पूरा लगाना पड़ा। सब जीवोंको समान स्वरूप वाला निरख सके, यह सबसे ऊँची तपस्या है। ये तीन बातें यदि श्रावक पुरुषोंमें आ जायें तो यह भी बड़ा उत्कृष्ट है। इस प्रकार जीव पुण्यका केवल ज्ञायक ही रहता है, पुण्यका अभिलाषी नहीं रहता है।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदि अधम्मं ।

अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११ ॥

ज्ञानीके अधर्मका अपरिग्रह जो इच्छारहित है वह अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी पुरुष अधर्मको नहीं चाहते हैं। इसलिए वे अधर्मके अपरिग्रही हैं। वे तो केवल अधर्मके ज्ञायक होते हैं। इससे पहिले पुण्यकी बात कही गई थी कि ज्ञानी जीव पुण्यको भी नहीं चाहता। उसके पुण्यका काम होता है, पर पुण्यको नहीं चाहता है, क्योंकि जानता है कि पुण्य भिन्न चीज है। और पुण्य बँध भी गया तो उसके उदयमें कुछ बाह्य समागम ही तो मिले। उन बाह्य समागमोंमें आत्माका भाव ही तो पराधीन हुआ। विषयकषायके परिणाम ही तो बढ़ेंगे, संसार बढ़ेंगे। पुण्यसे मोक्ष नहीं होता। मोक्ष होता है शुद्ध ज्ञानस्वभाव के अवलम्बनसे। सो वह पुण्यको करता हुआ भी पुण्यका ज्ञायक रहता है।

ज्ञानीकी वृत्तिमें ज्ञानकी झलक भैया! ज्ञानी होनेपर भी जब तक अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी राग है तब तक इस गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कषायके परिणाम भी उठते हैं। तो उन विषयकषाय परिणामोंरूप पापको करता हुआ भी ज्ञानी पापकी चाह नहीं करता, उससे आसक्ति नहीं करना, बल्कि वियोगबुद्धिसे उसमें प्रवृत्ति करता है। जैसे कैदीको जबरदस्ती चक्की पीसनी पड़ती है सिपाहीके डंडेके डरसे, पर उसके मनमें वियोगबुद्धि है कि कब यह छूट जाय? इसी प्रकार विषय कषाय पापकी प्रवृत्तिमें ज्ञानी जीवको लगना भी पड़े, लेकिन वह उनमें वियोगबुद्धिसे लगता है। तो उस समय भी वह पापोंका ज्ञायक रहता है।

ज्ञानीके अज्ञानमयभावका अभाव भैया! इच्छाको ही परिग्रह कहा गया है। जिसके इच्छा नहीं है उसे परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता है। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावके अभावसे अर्थात् इच्छाके अभावसे वह अधर्मको नहीं चाहता, पापको नहीं चाहता तो ज्ञानीके पापका परिग्रह भी नहीं है।

ज्ञानी व अज्ञानीकी वृत्तिमें शैली कितने ही पुरुष यह शंका करने लगते हैं कि ज्ञानी पुरुष एक पापका काम करता है और एक अज्ञानी पुरुष कोई पापका काम करता है तो उस पापका दोष ज्ञानीको ज्यादा लगता है। ऐसा तर्क करते हैं कि यह तो ज्ञानी है। और यह कुछ जानता नहीं है इसलिए उसे दोष कम लगेगा और यह जानता है, ज्ञानी है और फिर पाप करता है तो उसे ज्यादा दोष लगना चाहिए, पर यथार्थ बात इसके विपरीत है। यदि कोई वास्तवमें ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि पुरुष है, आत्मानुभव जिसे हो चुका है ऐसे पुरुषको यदि कदाचित् पापकार्योंमें लगना पड़ता है तो इसका दोष अधिक नहीं होता है, कम होता है और अज्ञानी जीव यदि वह पापकार्योंमें लगता है तो उसके कई गुण पाप होता है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी होनेके कारण पापकार्योंमें लगाकर भी उसके वियोगबुद्धि भीतर बसी है। यदि वियोगबुद्धि भीतर नहीं हुई, हटनेकी शैली उसके नहीं हुई तो उसे ज्ञानी ही नहीं कहते हैं, वह तो अज्ञानी ही हो गया।

ज्ञानीकी प्रवृत्तिमें वियोगबुद्धि भैया! जो ज्ञानी होता, सम्यग्दृष्टि होता, उसकी भी प्रवृत्ति कर्मविपाकवश कदाचित् पापकार्योंमें होती है। जैसे युद्ध करना पड़ता है, गृहस्थी सम्हालनी पड़ती है, समाज एवं देशकी सेवा भी करनी पड़ती है, पर ज्ञानी इन्हें वियोगबुद्धि से करता है। यह मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा इरादा उस ज्ञानी पुरुषके होता है। यदि ऐसा ढंग नहीं है और स्वच्छन्द होकर पापोंमें प्रवृत्ति करता है तो उसे ज्ञानी क्यों कहते हैं? वह ज्ञानी नहीं है।

अज्ञानका महान् अपराध अज्ञानी पापकार्य करता है तो प्रथम तो सबसे बड़ा दोष उसके अज्ञानका है। पापकार्य करनेसे भी कई गुणा अपराध अज्ञानका माना गया है। यह कोई लोकव्यवहारकी बात नहीं है कि भाई इसे जानकारी न थी और अपराध बन गया है तो इसे छोड़ दो, माफ कर दो, सहूलियत दे दो। यहाँ तो क्यों नहीं जानकारी हुई, क्यों अज्ञान रहा, यही महान् दोष है इस जीवके लिए। अज्ञानका जितना बँध होता है उसके मुकाबलेमें प्रवृत्ति पाप करनेसे जो बँध होता है वह पाप अल्प है। पापरूप प्रवृत्ति करनेसे बँध जितना होता है उससे कई गुण बँध अज्ञानका होता है, जानकारी न होनेसे होता है।

भावोंसे प्राकृतिक व्यवस्था ज्ञानी व अज्ञानीका लोकव्यवहारकी बातों से मिलान नहीं किया जा सकता कि भाई लोकव्यवहारमें तो यह सुविधा मिल जायगी कि भाई इसको जानकारी नहीं थी, पाप हो गया, इसे छोड़ दो। जैसे किसी मैदानमें शौच और पेशाब करना मना है, और एक अज्ञानी पेशाब कर ले तो सिपाही उसे कह सकते हैं कि भाई इसे छोड़ दो, इसे पता नहीं था। पर यहाँ तो इतनी भी छूट नहीं है। यह तो अज्ञानका महापाप है।

ज्ञानके साथ वृत्तिकी शैली एक दृष्टान्त ले लीजिए एक पुरुषको मालूम है कि यहाँ अग्निका छोटा कण रखा है और किसी कारणसे अग्नि पर उसे पटके जानेको विवश किया जा रहा है तो वह अग्निपर धीरेसे पांव धरकर निकल जायगा। और जिसे नहीं मालूम है उसे यदि घसीटकर अग्निकी कणपर पटका जाता है तो वह पैर धीरेसे रखता है और उस अग्निके कणपर पैरको दबाकर रखता है। और वह अधिक जल जायगा। तो हमें यदि अधिक जानकारी नहीं है तो यह सबसे बड़ा दोष है। तो हर प्रकारकी जानकारी का हमें यत्न रखना चाहिए। कोई पुरुष सुनी बातचीतका बहाना करके सोचे कि मैं सब जानता हूँ। यदि उसके कोई वियोगबुद्धि नहीं है, उसे हटानेका आशय नहीं है तो उसे ज्ञानी ही नहीं कहा है।

ज्ञानीकी निष्परिग्रहता इस ज्ञानी पुरुषको कर्म विपाकवश पापकार्योंमें भी कदाचित् प्रवृत्ति करना पड़ती है लेकिन वह तो ज्ञानमय ज्ञानभावका अनुभवी हो चुका है, सो वह केवल पापका ज्ञायक ही रहता है। जैसे पापके सम्बन्धमें बात कही गई है यों ही रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, इन सबके बारेमें यह ही बात लगाते जाइए। वह इन्द्रियोंका परिग्रही नहीं है किन्तु इन्द्रियोंका ज्ञायक है। वह रागद्वेषका परिग्रही नहीं है किन्तु रागद्वेषका ज्ञायक है। इस प्रकार इसके अलावा अन्य-अन्य भी बातें सोच लेनी

चाहिएँ। प्रयोजन यह है कि ज्ञानी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त पर और परभावोंका ज्ञायक ही होता है, परिग्रही नहीं होता है।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।

अपरिग्रहो हु अण्णस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१२ ॥

ज्ञानीकी अपरिग्रहता—इच्छारहित पुरुष अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी पुरुष भोजनको नहीं चाहता। अतः वह भोजनका अपरिग्रही है। वह तो भोजनका ज्ञायक होता है। यह बात बड़ी कठिन कही जा रही है। भोजन करते हुए भी भोजनसे वियोगबुद्धि रखे, इसके लिए कितना ज्ञानबल चाहिए? खाते समय क्या किसी को यह ख्याल रहता है कि भोजन करना मेरा स्वरूप नहीं है, यह विपत्ति है, इससे मैं कब दूर होऊँ? क्या ऐसा कोई ख्याल करता है? क्यों बाबाजी? एक भाई ब्रह्मचारी जी का कहना है कि पेटभर जायगा फिर स्वयं ख्याल आ जायगा कि यह दाल चावल खाना मेरा स्वरूप नहीं है। अरे पेटभर जानेपर तो खाया ही नहीं जा सकता। ज्ञानीके तो खाते हुएमें भी ज्ञानकी जागृति रहती है। अज्ञानी तो यों सोचेगा कि यह पेट भर क्यों अभी गया जो यह छोड़ना पड़ा।

भोजनमें भी स्वरूपस्मरण—खाते हुएमें और बहुतसी बातोंका सदा ध्यान रहे। आहार करना मेरा स्वभाव नहीं है। अच्छा यह दृष्टि होना भूखेमें कठिन लगे, न हो पाय, पर पेट भरनेपर तो ऐसी चर्चा आप कर सकते हैं कि नहीं कि आत्माका आहार करना स्वभाव नहीं है। कोई अधपेटमें ही कह सकता है, कोई बिल्कुल भूखेमें ही कह सकता है, जिसके जैसा ज्ञानबल होता है वैसा ही उसको याद रह सकता है।

बन्धनके स्वरूपका दिग्दर्शन—अब स्वरूपकी दृष्टि कीजिए। आत्मा अमूर्तिक है। इससे तो शरीरका भी सम्बन्ध नहीं है। यह शरीर तो आत्माको छू भी नहीं सकता। यों ही कर्मका भी स्पर्श नहीं है। फिर भी है बन्धन अभी, हो, वह सम्बन्धकृत बंधन नहीं है; किन्तु निमित्तनैमित्तिककृत बंधन है। जैसे एक रस्सी और दूसरी रस्सीमें गाँठ लगा दी जाय तो उन दो रस्सियोंका जो परस्परमें सम्बन्ध है वह सम्पर्ककृत है और निमित्तनैमित्तिककृत है किन्तु यह शरीर और आत्माका सम्बन्ध सम्पर्ककृत नहीं है, निमित्तनैमित्तिककृत है। जैसे गायके गलेकी रस्सी। गलेका और रस्सीका बंधन सम्पर्ककृत नहीं है कि एक हाथमें गला पकड़ा और एक हाथमें रस्सी पकड़ा और दोनोंमें गाँठ लगा दिया, ऐसा सम्पर्ककृत नहीं है। वहाँ तो रस्सीका रस्सीसे सम्पर्ककृत बंधन है और वहाँ गाय बंधनमें आ गई, विवश हो गई, कहीं जा नहीं सकती। ऐसा जो बंधन गायका हुआ है वह निमित्तनैमित्तिक बंधन है। रस्सी से फंसी रस्सीके मध्यमें गायका गला है, इस निमित्तसे वह कहीं जा नहीं सकती।

निमित्तनैमित्तिकीय बन्धन—एक और जरासा मोटा दृष्टान्त देखो। कभी बगीचेमें जंगलमें अपन निकलते हैं तो कोई प्रदेश ऐसा होता है कि वहाँसे मक्खियाँ अपने सिरपर मंडराने लगती हैं और जैसे-जैसे अपन चलते हैं वे भिन-भिन करती हुई छोटी-छोटी मक्खियाँ अपने सिरके ऊपर वैसी

ही चलती जाती हैं। देखा है कभी ऐसा? तो उन मक्खियोंका हम आपके साथ-साथ चलते जाना ऐसा जो उनका बँधन लगा है वह सम्पर्ककृत बँधन है। यों ही शरीरका और आत्माका निमित्तनैमित्तिक बँधन है।

भोजनकी अपरिग्रहता—तो जब आत्माका शरीरसे भी सम्पर्क नहीं है तो भोजनका सम्पर्क क्या हो सकता है? फिर भोजनका यह परिग्रही कैसे कहा जाय? भोजनका सम्बन्ध नहीं है यहाँ। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय निजको जानता है। ज्ञान करता है इतनाही आत्माका कर्तृत्व है और इतना ही भोक्तृत्व है। भोजन करनेके कालमें भी भोजनको विषय मात्र करके जो रसादिकका ज्ञान किया गया है उस ज्ञानका यह कर्ता है, पर भोजनका यह कर्ता नहीं है। यह तो भोजनका ज्ञायक है।

ज्ञानीका ज्ञानमय भाव—इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानी जीवके नहीं होता है ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। सो ज्ञानी चूँकि अज्ञानमय भावसे रहित है, इच्छासे रहित है इसलिए वह आहारको नहीं चाहता। तब ज्ञानीके आहारका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव ही होनेसे ज्ञानी आहारका सिर्फ ज्ञाता ही रहता है।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।

अपरिग्रहो हुह पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१३ ॥

ज्ञानीके पानमें भी निष्परिग्रहता—इच्छारहित पुरुष अपरिग्रही है। ज्ञानी पान भी नहीं चाहता है। पीनेकी चीजें दूध पीना, रस पीना, शरबत पीना, इस पानको भी वह ज्ञानी जीव नहीं चाहता। इसलिए ज्ञानी पानका अपरिग्रही है। वह तो पानका केवल ज्ञायक ही है। यह भी बड़ी कठिन बात है। खाना खाते हुए खानासे वियोगबुद्धि रखना, ज्ञायक रह जाना यह अज्ञानीको कठिन है, इसी प्रकार पानी आदि पीते हुए उससे वियोगबुद्धि रखे, मात्र ज्ञायक रहे, यह भी कठिन है।

ज्ञानीके अज्ञानमय भावका अभाव—इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता है। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानी अपने ज्ञानमय भावे पानको भी नहीं चाहता। चाहना स्वयं अज्ञानमय भाव है। ज्ञानमय भाव तो ज्ञानका परिणमन है। ज्ञानके स्वरूपको जानना यह ज्ञानमय भाव है और राग हो, द्वेष हो, चाह हो, जो भाव स्वयं जाननहार नहीं है किन्तु जाननहारके द्वारा भोगे जाने वाले हैं उन सब भावोंको अज्ञानमय भाव कहते हैं। तो अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है। वह पानको नहीं चाहता। अतः ज्ञानीके पानका भी परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञानभाव होनेसे वह पानका ज्ञायक ही रहता है।

ज्ञानीकी विविक्तता—भैया! यों चार गाथाएँ एकसे विषयको बताने वाली निकली हैं, जिनका संकेत यह है कि लोकमें पुण्य-पाप, खान-पान इन चारोंकी प्रसिद्धि है। ज्ञानी पुरुष इन चारोंको

नहीं चाहता। न पुण्य चाहता, न पाप चाहता, न खान चाहता, न पान चाहता। और ये चारों बातें तो उपलक्षणात्मक हैं। सभी पर और परभावोंको यह ज्ञानी नहीं चाहता। मनुष्य तिर्यञ्च आदिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं और उन पर्यायोंमें रहकर सर्व पर्यायोंके रूप प्रवृत्ति करना पड़ता है किन्तु अनुभव उसका यही रहता है कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, तिर्यञ्च नहीं हूँ, मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ।

ज्ञानीकी सर्वत्र ज्ञायकता—पुरुष लिंग धारण करके भी यह ज्ञानी अंतरमें श्रद्धा रखता है कि मैं पुरुष नहीं हूँ। स्त्री शरीर धारण करके भी उस शरीरमें रहने वाला अन्तरात्मा ज्ञानी यह अनुभव करता है कि मैं स्त्री नहीं हूँ। ज्ञानी पुरुष अपने आपको ज्ञानमयरूपसे ही अनुभव करता है। अतः उनके इन सब बातोंका परिग्रह नहीं होता, किन्तु आत्मीय आनन्दमें तृप्त होकर असन पान आदिके सम्बन्धमें निष्परिग्रही रहता है। जैसे दर्पणमें बिम्ब झलकता है इसी प्रकार ज्ञानीमें वे आहार अनसनादिक आहारके वस्तु वस्तुरूपमें झलकते हैं। यह उनका ज्ञायक है पर रागरूपसे ग्रहण करने वाला नहीं है। खावो, पियो, इससे ही भला है, इससे ही मेरा पोषण है, यही मेरा सब कुछ है, इससे ही मेरा अस्तित्व है ऐसे रागरूपसे आहार आदिका ग्रहण नहीं करता।

ज्ञानीका आशय—ज्ञानी पुरुषके किसी भी प्रकारकी बाह्य द्रव्योंमें आकांक्षा, तृष्णा, मोह, इच्छा नहीं होती है। तब वह स्वाभाविक परमानन्दमें तृप्त होता है, इन सबका मात्र ज्ञायक रहता है। यह भी है इस रूपसे, उनका जाननहार ही रहता है, रागरूपसे लगाव नहीं करता है। जैसे कि चरणुनयोगके ग्रन्थोंमें भी बताया है कि साधु पुरुष साधनाके लिए आहार नहीं करते, शरीर साधनेकेलिए आयु रखनेकेलिए नहीं किन्तु ज्ञानकेलिए, संयम केलिए, ध्यानकेलिए आहार करते हैं। आहार ज्ञानी भी करते हैं मगर विवेकसे करते हैं। वह ज्ञानी पुरुष तो अपनी आत्मसाधनाकेलिए जिन्दा रहना चाहता है, जिन्दा रहनेके लिए जिन्दा नहीं रहना चाहता है, ऐसा अन्तरमें अन्तर आनेके कारण ज्ञानी जीव निष्परिग्रही रहता है और उनका ज्ञायक ही रहता है।

एमादिये हु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।

जाणगभावो णियदो णीरालम्बो हु सव्वत्थ ॥ २१४ ॥

ज्ञानीके परद्रव्यका अपरिग्रहित्व—पहिले कुछ भाव बताए गए कि इन परद्रव्योंके भावोंको या परके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता। अब कहते हैं कि इस ही प्रकारके नाना तरहके जो भी परद्रव्योंके भाव हैं उन परभावोंको भी ज्ञानी जीव नहीं चाहता; क्योंकि ज्ञानी जीव तो सर्वत्र ज्ञायक भावस्वरूप नियत और निरालम्ब रहता है। जब किसी भी परभावोंको नहीं चाहता तो यह ज्ञानी जीव परिग्रही नहीं होता है।

परिग्रहित्वका कारण इच्छा—परिग्रही होना अन्तरमें इच्छापर निर्भर है। किसी भी बाह्य वस्तुमें झुकाव है, चाह है तो वह परिग्रही हो चुका। उसपर परिग्रहका भार लद गया। जिस वस्तुका राग है उस वस्तुका विनाश होनेपर बड़ी विह्वलता होती है। वह सब इस इच्छाका ही प्रसाद है। बाह्यवस्तुके विनाशसे विह्वलता नहीं है; किन्तु अपनेमें इच्छाकी और उस इच्छाका विघात हो रहा

है इस कारण विह्वलता है। यों समस्त परभावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता है, वह तो सर्वत्र निरालम्ब है, प्रत्येक स्थितिमें वह अपनेको अकेला निरख सकता है।

ज्ञानी गृहस्थकी अन्तर्निर्मलता—गृहस्थ भी चाहे दुकानमें बैठा हो, चाहे घरमें हो, चाहे किसी प्रसंगमें हो, यदि किसी क्षण अपनेको सबसे निराला ज्ञान स्वभावमात्र तक सकता है तो वह गृहस्थ धन्य है, वह ज्ञानी है, वह संत है। धर्मका पालन परमार्थसे यही है। धर्म के लिए हाथ पैर फैलानेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो मजबूरन ही फैलाये जाते हैं। राग का उदय आये तो इस रागको किस जगह पटके? उस जगह रागको छोड़ना चाहिए जिस स्थानमें रागको छोड़नेमें आत्मा विपरीत पथमें न लगे, विषयकषायोंमें न लगे। ऐसे विवेक के कारण ज्ञानी जीव पूजा, भक्ति, दान, उपकारमें अपने हाथ पैर फैलाता है और गृहस्थावस्थामें यह सब करना चाहिये। परमार्थतः यदि आत्मबल जागृत है तो इतनी प्रवृत्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो किसी भी जगह किसी भी स्थितिमें सबसे निराला ज्ञानस्वभावमात्र अपने आपको देखकर सुखी हो सकता है। ज्ञानी जीव समस्त परभावोंके भारको नहीं चाहता इसलिए उनका परिग्रही वह नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्ञानी जीव अत्यन्त निष्परिग्रही होता है।

ज्ञानीके स्वच्छ स्वरूपका अनुभव—यह ज्ञानी पुरुष भावांतरोंके परिग्रहसे शून्य होनेके कारण वमन कर दिया है समस्त अज्ञानभावोंको जिसने ऐसा निर्भर होता हुआ सर्व पदार्थों में अत्यन्त निरालम्ब होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमात्र अनुभव में रहता हुआ साक्षात् ज्ञानघन आत्माका अनुभव करता है। भीतरी स्वच्छताका ही सारा प्रताप है। कर्मक्षय, कर्मसम्बर, शान्तिलाभ ये सब अंतरंगकी स्वच्छतापर निर्भर है। बाहरी दिखावट सजावट से शान्ति प्राप्त न हो जायगी और अंतरंग स्वच्छता सबसे निराले निज स्वरूपमात्र अपने आपको निरखनेसे होती है। यह ज्ञानी पुरुष इस ही उपायसे अपनेको स्वच्छ ज्ञानघन अनुभव करता है। भैया! पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंमें उदयवश ज्ञानी जीवके उपभोग भी होता है, किन्तु उसके उपभोगमें रागका अभाव है। इस कारण वह उपभोग भी परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता। ज्ञानीकी कितनी उत्कृष्ट महिमा है? जिस जालके अन्दर मिथ्यादृष्टि बना हुआ आत्मा संसारबंधन को बढ़ाता है, देखनेमें वैसा ही जाल है। उन जालोंमें रहता हुआ सम्यग्दृष्टि परिग्रह भाव तकको भी नहीं प्राप्त होता। यह सब गुणोंकी अलौकिक महिमा है। अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी पुरुषके उपभोगका परिग्रह नहीं बनता। इस ही के उत्तरमें अगली गाथा आ रही है।

उप्यणोदयभोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।

कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वये णाणी ॥ २१५ ॥

ज्ञानीके त्रिविध उपभोगकी अपरिग्रहता—क्या कहा जा रहा है कि ज्ञानी पुरुषके उपभोगका परिग्रह नहीं बनता। क्यों नहीं बनता, उसके विश्लेषणमें उपभोगके तीन भेद किए जा रहे हैं। भोग तीन प्रकार हैं (१) अतीत उपभोग, (२) भविष्यत् उपभोग और (३) वर्तमान उपभोग। जो भोग

भोग चुके हैं उन भोगोंका नाम है अतीत उपभोग। जो भोगे जायेंगे उनका नाम है भविष्यत् उपभोग, और जो भोग वर्तमान समयमें भोगे जा रहे हैं उनका नाम है वर्तमान उपभोग। इन तीनों उपभोगोंका ज्ञानी जीव परिग्रही नहीं है।

अतीत उपभोगकी निष्परिग्रहता—यों भैया! कर्मोदयजन्य उपभोग ३ प्रकारके हैं उनमेंसे जो अतीत उपभोग है, जो गुजर गए भोगोपभोग हैं वे तो गुजरे ही हुए हैं। गुजरेका स्मरण करना, सम्बन्ध जोड़ना यह तो निपट अज्ञानीजनोंका काम है। जैसे कोई पुरुष बहुत धनी था और अब उदयवश गरीब हो गया, तो गरीब होनेपर भी दो आदमियोंके बीच वह अपनी शानकी बात कहता है कि मेरे द्वारपर तो सैकड़ों पुरुषोंके जूते उतरते थे, इतना तांता लगा रहता था, इतने घोड़े थे, इतना वैभव था। ऐसा जो अतीतसे सम्बन्ध जोड़ रहे हैं वह क्या है? वह अतीतका परिग्रह बना रहा है। चीज नहीं है पर परिग्रह बना रहा है। बात गुजर गई, पर गुजरी हुई बातको भी लोगोंके सम्मुख रखे, ममता रखे तो वह परिग्रह बन रहा है। ज्ञानी जीव अतीतका विचार नहीं करता। उसमें ममता, मोह, राग नहीं करता। सो अतीत तो अतीत ही हो गया इस कारण परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता।

अतीत परिग्रहमें ज्ञानी व अज्ञानीकी धारणा—अतीत परिग्रह तो गुजर गया, नष्ट हुआ फिर कहनेकी जरूरत क्या है? क्यों कहा जा रहा है? क्यों अपने अतीताका हाल दूसरोंको सुनाता है? मोक्ष मार्गमें इसकी अटका है क्या कुछ कि सुनाए बिना मोक्षमार्ग न मिलेगा; किन्तु वह दूसरोंको सुनाता है तो इसका कारण राग है। वह अतीतके बारेमें लोगोंको सुना-सुनाकर अपना परिग्रह बना रहा है। ज्ञानी पुरुष उसका स्मरण भी नहीं करता है कि मैं ऐसा भोगता था, ऐसी शानमें रहता था, ऐसा वैभव था, ऐसी प्रतिष्ठा थी। क्यों ख्याल किया जा रहा है अतीतका? अरे! कोई मोक्षमार्ग तो नहीं है, रत्नत्रय तो नहीं है। यह ख्याल किया जाना ही इस बातको सिद्ध करता है कि उसके अन्दर राग है। ज्ञानी जीव सोचता है कि यह तो अतीत ही हो गया सो वह उसका स्मरण भी नहीं करता है।

ज्ञानीके भविष्यत् परिग्रहका अभाव—भविष्यके जो उपभोग हैं, उनका परिग्रह अपना तब कहलाये जब चाह उनकी की जा रही हो। अतीतकी चाह यह ज्ञानी नहीं कर रहा है, पर अतीतमें अहंकार कर रहा है। तो अहंकार तो परिग्रहका रूप है। और भविष्यत्काल का उपभोग जब उनकी चाह की जा रही हो तब परिग्रह बन सकता है, सो जैसे मुझे यह मिल जाये, हमारी ऐसी दुकान हो जाय, ऐसी अमुक चीज बन जाय, इतनी स्थिति हो जाय, ऐसा जरिया बन जाय आदि प्रकारसे भविष्य सम्बन्धी कुछ भी चाह करे तो भविष्य जब होगा तब होगा, मगर परिग्रह अबसे ही लग गया। अतीतकालके उपभोगसे अहंकारका परिग्रह होता है और भविष्यकालके उपभोगकी इच्छासे परिग्रह होता है। तो जो अनागत परिग्रह है वह तब ही परिग्रह कहला सकता है जब उसकी चाह की जा रही हो। सो भविष्य की भी चाह ज्ञानी नहीं करता।

चाहके प्रकार—चाह भी एक आसक्तिपूर्वक होती है और एक साधारणतया होती है। ज्ञानी गृहस्थ दूकानपर जाता है तो क्या उसे यह चाह नहीं होगी कि आय हो और दूकान चले। होती है पर वह तात्कालिक चाह है, कर्तव्य वाली चाह नहीं है। पर अज्ञानी जीव तो अपनी पर्यायमें असक्ति रखकर यहाँ मैं धनी कहलाऊँ, मैं लोकमें प्रतिष्ठित बनूँ ऐसी चाह करनेका भी यत्न करता है। परिग्रह तो लेशमात्र भी होने वाली इच्छामें है। पर ज्ञानी संत रागके प्रकरणमें इस रागका परिग्रही नहीं कहलाता। भविष्यका भी परिग्रही ज्ञानी पुरुष नहीं कहलाता। भविष्यका भी परिग्रह ज्ञानीपर नहीं लगता है।

वर्तमान उपभोगमें भी ज्ञानीके निष्परिग्रहता—अब रह गया वर्तमान परिग्रह उपभोग। वर्तमान उपभोग भी ज्ञानी जीवका परिग्रह नहीं है। वह किसी प्रकार वर्तमानमें भोगे भोगे जा रहा है, किन्तु ऐसे भोग मुझे सदा काल मिलें ऐसी बुद्धिसे भोग जाय तो वह वर्तमान उपभोग परिग्रह बन गया। और ऐसा क्या उपभोग परिग्रह हो सकता है कि भोगा तो जा रहा है पर वियोगबुद्धि चली जा रही हो। फंस गए हैं, इस आपत्तिसे कब दूर हों, ऐसी बुद्धिसे उपभोग भोगा जाता है तो वह कैसे परिग्रह होसकता है? वर्तमान उपभोग रागबुद्धिसे ही प्रवर्तमान हो तो परिग्रह होता है, किन्तु वर्तमान उपभोग ज्ञानी जीवके रागभावसे प्रवर्तमान नहीं देखा गया है; क्योंकि ज्ञानी पुरुषके अज्ञानमय रागबुद्धिका अभाव है। मात्र वियोगबुद्धिसे कर्मविपाकवश वेदनाकी शांतिके अर्थ उपभोगोंमें प्रवृत्ति हो तो वह उपभोग परिग्रह नहीं होता है। इस कारण वर्तमान उपभोग भी ज्ञानी जीवके परिग्रह नहीं होता है।

ज्ञानीके तीनों कालोंके उपभोगोंके परिग्रहपनेका अभाव—अब बतलावो अतीत उपभोग तो अतीत ही हो गया, उसमें तो ज्ञानी अपना उपयोग भी नहीं देता है तो परिग्रह कैसे बने? भविष्यत् उपभोग चाहा न जा रहा हो तो उसका परिग्रह कैसे बने? ज्ञानीके अज्ञानमय भाव जो आकांक्षा है उसका अभाव है, सो ज्ञानी जीवके परिग्रह भावकी प्राप्ति नहीं होती। अब यह प्रश्न हो रहा है कि भविष्य कालका जो उदय है, उपभोग है उसको ज्ञानी जीव क्यों नहीं चाहते? उसके उत्तरमें कहा जा रहा है

जो वेददि बेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।

तं जाणओ हु णाणी उभयं पि ण कंखइ कयावि ॥ २१६ ॥

वेद्यवेदकभावकी क्षणिकता—वस्तुस्वरूपके बहुत मर्मकी बात ज्ञानी सोच रहा है उपभोगके सम्बन्धमें कि दो प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं, एक इच्छाके समय का भाव और दूसरा भोगनेके समयका भाव। इच्छाके समयके भावका नाम है वेद्यभाव और भोगनेके समयके भावका नाम है वेदकभाव। क्या वेद्यभाव सदा रहता है? इच्छाका परिणमनरूप किया भाव क्यासदा रहता है? वह तो होता चला जाता है। समय-समयमें नष्ट होता जाता है। इसी प्रकार उपभोगके भोगनेका भाव क्या सदा रहता है? भोगका भी भाव समय-समयमें नष्ट होता है।

वेद्यवेदकभावकी क्रमवर्तिता भैया! एक समयमें जीवमें क्या दो परिणाम हो सकते हैं कि इच्छाका भी परिणाम रहे और उसही के भोगनेका भी परिणाम बने? जिस कालमें इच्छाका परिणाम है उस कालमें भोगनेका परिणाम नहीं है और जिस कालमें भोगनेका परिणाम है उस कालमें इच्छाका परिणाम नहीं है। सीधी बात देखो कि जब आपको यह इच्छा है कि इस समय २५ रु० की आय होना चाहिए। इस इच्छाके समयमें २५ रु० आपके सामने हैं क्या? अगरहैं तो इच्छा ही नहीं हो सकती कि २५ की आय हो, चाहे नई इच्छा कर लो कि और २५ रु० आने चाहिएँ। तो जो हस्तगत हैं उनकी चाह नहीं होती याने जो भोग भोगा जाता है उसकी चाह नहीं होती। जब इच्छा हो रही है तो इसका अर्थ है कि वह चीज आपके पास नहीं है और जो चीज पास नहीं है उसका अर्थ है कि उसका भोग नहीं हो रहा है। तो जब इच्छा हो रही है तब भोग नहीं होता और जब भोग हो रहा है तब इच्छा नहीं होती।

मोहियोंके वेद्यके समयमें वेदकभावकी उत्सुकता बड़े लोग, समर्थ लोग, पुण्योदय वाले लोग यह चाहते हैं कि जो हम चाहें सो तुरन्त पूर्ति हो। कोई धैर्य नहीं करता, गम नहीं खाता। जैसे आपकी घरमें इच्छा हुई कि आज तो पापड़ बनने चाहिएँ। तो आप कितनी विह्वलता करते हैं कि अभी बनने चाहिएँ। तो आपके घरमें कहती हैं कि आज कैसे बन सकते हैं। तो कहते हो कि नहीं-नहीं जल्दी तैयार करो। तुरन्त तैयार करो। क्या चीज नहीं है जो आज नहीं बन सकते हैं। बतलावो जो चीज न हो ला दें। जब इच्छा हुई तो उसी समय लोग उसे भोगनेमें अपना बड़प्पन महसूस करते हैं। हमारा उदय अच्छा है, हम बड़े हैं, हम जो सोचें वह तुरन्त होना चाहिए। अच्छी बात है। उसमें इतनी देर न लगना चाहिए। एक घंटा लगना चाहिए। तो क्या ५ मिनट लगना चाहिए? पांच मिनट भी न लगना चाहिए। एक मिनट लगे, एक सेकेण्ड लगे। नहीं इच्छा तो ऐसी रहती है कि जिस समय इच्छा करूँ उस समय पूर्ति हो। तो यह बात तो हो ही नहीं सकती। वस्तुस्वरूप नहीं कहता कि जिस कालमें इच्छा हो उसी कालमें उपभोग भी हो।

वेद्यभाव व वेदकभावका परस्परमें विरोध भैया! वेद्यभाव व वेदकभाव इन दोनोंका परस्परमें विरोध है। जैसे राग और वैराग्यका विरोध है कि राग है तो वैराग्यका परिणाम नहीं है, वैराग्य है तो रागका परिणाम नहीं है, संसार और मोक्षमें विरोध है कि जिस समय संसार है उस समयमें मोक्ष नहीं है, जिस समयमें मोक्ष है उस समयमें संसार नहीं है। मोक्ष होनेके बाद फिर संसार नहीं होता, यह यहाँ विशेष है। इसी प्रकार इच्छा और भोग इन दोनों परिणामोंमें विरोध है। जिस कालमें इच्छा है उस कालमें उस ही पदार्थ सम्बन्धी भोग नहीं है, जिस कालमें भोग है उस कालमें उस पदार्थसम्बन्धी इच्छा नहीं है।

वेद्यभाव व वेदकभावके युगपत् न होनेपर दृष्टान्त एक मनुष्य धूपसे सताया गया गर्मीमें चला जा रहा है, जब बड़ी तेज धूप लगी तो उसके इच्छा होती है कि मुझे छायादार वृक्ष मिल जाय। छायादार वृक्ष पा लिया, उन वृक्षोंके नीचे विश्राम कर लिया। जिस समय इच्छा कर रहा

है उस समय क्या उसके ऊपर छाया है? नहीं है। वह सताया हुआ है, और मिल जाय छाया वाला वृक्ष और उस छायाके नीचे पहुँच जाय तो पहुँचनेपर वह छाया का सुख भोगता है या वहाँ यह इच्छा करता है कि हे प्रभो! मुझे छाया मिल जाय? उस समय वह इच्छा नहीं करता। वह उस समय विश्रामका आनन्द लेता है, इच्छा नहीं करता है। तो भोगके समयमें इच्छा नहीं है और इच्छाके समयमें भोग नहीं है।

ज्ञानीका ज्ञातृत्व—भैया! बड़प्पन माना जाय तब जब कि इच्छाके ही कालमें भोग हो जाय। इच्छा पहिले हुई, भोग बहुत बादमें होगा। ऐसा अन्तर तो कोई नहीं सहना चाहता। पर क्या हो सकता है ऐसा कि इच्छाके ही कालमें उपभोग हो जाय? कभी नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञानी जानता है कि जिस कालमें इच्छा करें उस कालमें मिलता तो कुछ है नहीं और जिस कालमें मिलता है उस कालमें इच्छा पिशाचिनी रहती नहीं, तब फिर इच्छा क्यों की जाय? ऐसा ज्ञानी पुरुषका परिणाम रहता है। यह ज्ञानी आत्मातो ध्रुव होनेके कारण अथवा इसका जो स्वभाव है, ज्ञायकस्वरूप है वह ध्रुव है सो ज्ञानी आत्मा तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध एक ज्ञायकस्वरूप रहता है, शाश्वत नित्य रहता है और जो वेद्यवेदक भाव है इच्छाका परिणाम और भोगनेका परिणाम यह उत्पन्न और ध्वस्त होता रहता है। ये विभाव भाव हैं इसलिए झणिक हैं।

वेद्यभावकी पूर्तिका अभाव—भैया! अपने आपमें तीन बातें देखो स्वयं, इच्छा और भोग। स्वयं तो नित्य है और इच्छा और भोग ये दोनों अनित्य हैं, उत्पन्न होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। अब चाहने वाला यह स्वयं है। यह तो अवश्य नित्य है किन्तु चाहनेकी पर्यायरूपसे तो अनित्य है। इस अपनेको पर्यायरूपमें न निरखकर नित्य निरखो। इसमें एक परिणाम होता है जो इच्छाको बनाता है तो चाहा हुआ जो वेद्य भाव है उस वेद्य भावको जो वेदेगा वह वेदने वाला भाव जब उत्पन्न होता है तो चाहा जाने वाला भाव नष्ट हो जाता है, अर्थात् जब भोगनेके परिणाम होते हैं तो इच्छा सम्बन्धी भाव नष्ट हो जाता है। जब वह कांक्षमाण भाव, इच्छा वाला भाव नष्ट हो गया तो भोगने वाला भाव अब किसे वेदे? भोग उस इच्छामें नहीं भोग सकते। जब उस इच्छामें नहीं भोग सके तो इच्छा चाह करके ही मर गई। इच्छाका काम इच्छाके ही समयमें नहीं हो सकता।

चाहकी तरस-तरस कर ही मरनेके लिये उत्पत्ति—जैसे किसी मनुष्य या स्त्रीके बारेमें कोई कहता है कि देखो वह बेचारा तो अमुक बातके लिए तरसता-तरसता ही मर गया, उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। तरस-तरस कर प्राण गंवा दिए। इस प्रकार यह इच्छा भी तरस-तरस कर अपना विनाश कर लेती है। इच्छाका काम किसी भी पुरुषके नहीं बनता है, चाहे तीर्थकर हो, चाहे चक्रवर्ती हो, साधारण मनुष्य हो, किसीकी भी इच्छाकी पूर्ति नहीं होती इच्छाके समयमें, पर इच्छा तरस-तरस कर ही विनष्ट हो जाया करती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जानता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कुछ भी चाह नहीं करता। क्यों की जाय चाह, यह चाह तो चाह-चाहकर रह रह कर नष्ट हो जायगी। इससे कल्याण नहीं है। ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष भविष्यत् उपभोगोंको नहीं चाहता है।

वेद्यवेदकभावकी अनवस्था—ज्ञानी जीव यह जानता है कि इच्छाके समयमें उपभोग नहीं है और उपभोगके समयमें इच्छा नहीं है तो इच्छा उपभोगरहित ही रही। जिस समय इच्छा की जा रही है किसी उपभोगकी तो जब उपभोग का काल आता है तो इच्छाका भाव नष्ट हुआ, फिर वह उपभोगका परिणाम किस इच्छाको वेदे? यदि यह कहा जाय कि कांक्ष्यमण वेद्यभावकी अनन्तर होने वाली अन्य इच्छाको भोगेगा तो जब दूसरी इच्छा होगी, उससे पहिले वह वेदक भाव नष्ट हो जायगा, उपभोगका परिणाम समाप्त हो जायगा फिर उस इच्छाको कौन वेदेगा? यदि वेदक भावके पश्चात् होने वाले भावको वेदेगा ऐसा सोचा जाय तो वह वेदकभाव होनेसे पहिले ही वह वेद्य भाव नष्ट हो जायेगा, फिर वह वेदक किस वेद्यको वेदेगा? इस तरह कांक्ष्यमाणभाव और वेदकभाव इनकी अनवस्था हो जायगी। इससे सीधा यह जानना कि इच्छाका भाव और भोगका भाव एक समयमें नहीं होते हैं। जब भोग है तब इच्छा नहीं है और जब इच्छा है तब भोग नहीं है।

ज्ञानीके भोगकी वाञ्छाके अभावका कारण—भैया! भोगने किसी इच्छाका समागम नहीं कर पाया। कहो भोगके बाद जो इच्छा होगी उसे भोगेगा। पहिली इच्छाके बाद जो नई इच्छा होगी उसे भोग लेगा। तो नई इच्छाके पहिले तो भोग भी नष्ट हो गया। तात्पर्य यह है कि इच्छाकी पूर्ति किसीके भी नहीं हो सकती। यह मोटी ही बात नहीं कही जा रही है, किन्तु सिद्धान्तकी बात कही जा रही है कि वस्तुस्वरूप ऐसा है कि इच्छा कभी पूर्ण हो ही नहीं सकती। इस सिद्धान्तको जानने वाला ज्ञानी पुरुष किसी भी प्रकारकी वाञ्छाको नहीं करता। जब वेद्यभाव और वेदकभाव चलते हैं, नष्ट होते रहते हैं तो कुछ भी चाहा हुआ अनुभवमें नहीं आ सकता। जब चाहा हुआ हो रहा है तब वह अनुभवविहीन है। जब अनुभवमें आ रहा है तो चाहा हुआ नहीं है। इस कारण विद्वान् ज्ञानी संत पुरुष कुछ भी चाह नहीं करते। परपदार्थोंकी चाहसे वैभवसे अत्यन्त विरक्तिको प्राप्त होते हैं। इसको स्पष्ट करनेकेलिए अब यह अगली गाथा आ रही है

बंधुवभोगणमित्ते अङ्गवसाणोदयेसु णाणिस्स।

संसारदेहविसयेसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१७ ॥

बंध और उपभोगके निमित्तभूत जो अध्यवसानका उदय है वह संसारके विषयोंमें, परज्ञेय के विषयमें प्रवृत्त होता है, उन सबमें ज्ञानी जीवके राग उत्पन्न नहीं होता।

विभावोंकी द्विविधता—जितने भी विभाव विकार होते हैं सो कोई तो संसारविषयक होता है और कोई शरीरविषयक होता है। इन भावोंको २ किस्मोंमें बाँट दो। एक तो रागद्वेष आदिकके ढंगके भाव और एक सुख-दुःख भोगनके ढंगके भाव। रागादिक भाव तो संसार बढ़ाने वाले होते हैं और सुख-दुःखके भाव शरीरविषयक होते हैं। तो जो संसारविषयक भाव हैं वह तो होता है बँधके कारण और जो शरीर विषयक अध्यवसान है वह होता है उपभोगके कारण याने रागद्वेष मोहादिक भाव बँध करने वाले हैं और सुख-दुःख आदिक भाव उपभोगके निमित्त हैं।

संसारविषयक व शरीरविषयक भावोंकी विशेषता—ये सभी विकार विकारके नाते एक समान हैं किन्तु बँधन बढ़ाने वाले और शरीरविषयक उपभोग करने वाले ऐसे २ भाव कहे गए हैं। रागभाव तो बँध ही कराता है और सुख-दुःखका भाव बँध नहीं कराता है। जहाँ तक राग है तहाँ तक सुख-दुःख चलते हैं। तिसपर भी सुख-दुःखके ही प्रति दृष्टि हो तो सुख-दुःख राग नहीं करता। जैसे कभी यह कहा जाय कि हम जानते हैं तभी तो बँधन में पड़ते हैं। राग होता है तो जानकर ही होता है। जो चीज नहीं जानते हैं ऐसे पुद्गल हैं वे तो बँधको नहीं प्राप्त होते। तो किसीके पराधीन बनते हैं। हम जानते हैं इसलिए पराधीन बनते हैं। सो हमारे पराधीन बननेके कारण ज्ञान हो जाय सो नहीं है। इसमें ज्ञान भी होता है, राग भी होता है। ज्ञान जिसमें नहीं है वहाँ राग नहीं होता है। फिर भी बँधका कारण ज्ञान नहीं है, राग है। इसी कारण जिस जीवके राग होता है उसके ही सुख-दुःख होते हैं, फिर भी सुख-दुःखसे बँध नहीं होता है, रागकी ओरसे बँध होता है। इस कारण सुख-दुःख भाव उपभोगविषयक हैं और रागादिक भाव संसारविषयक हैं।

बन्धकी रागहेतुता—यहाँ बैंकर साहब (श्री महावीर प्रसाद जी बैङ्कर मेरठ) का प्रश्न बहुत मर्मका है कि राग बिना सुख-दुःख होते ही नहीं हैं, इसलिए सुख-दुःख बँधका कारण होना चाहिए, किन्तु स्वरूपपर दृष्टि दें तो सुख-दुःखके कारण बँध नहीं होता। बँध होता है रागके कारण। सुख-दुःख तो उपभोगके कामके हैं। पर ज्ञानी जीवको इन सबमें यह दृष्टि है कि चाहे वे सुख-दुःखके ढंगके भाव हों और चाहे वे रागद्वेषके ढंगके भाव हों, सब विकार भाव हैं। इस कारण उन सब भावोंमें उस ज्ञानी जीवके राग नहीं होता है; क्योंकि वे समस्त विकार नाना द्रव्योंके स्वभावरूपसे देखे गए हैं अर्थात् नाना प्रकारके पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे ये भाव पैदा होते हैं। सो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक भाव स्वभावरूप आत्माके रागादिकका प्रतिषेध किया गया है।

ज्ञानीकी रागरसरिक्तता—ज्ञानी जीवके ये समस्त कर्म चूँकि ज्ञानी रागरससे रिक्त हैं, इस कारण परिग्रह भावको प्राप्त नहीं है। स्त्री पुत्रादिकके पालनके परिग्रह भाव को नहीं प्राप्त होता है; क्योंकि उसके पालनेकी प्रवृत्तिमें रागरस नहीं है, पालना पड़ता है। जैसे कभी परिवारमें या सद्गोष्ठीमें, मित्रोंमें रागरस न रहे तो कायदे कानूनके अनुसार बोलना पड़ रहा है पर परिग्रह नहीं रहता है। परिग्रहभाव रहे तो शल्य रहता है, खिन्नता रहती है, बँधन रहता है। पर रागरससे रिक्त रहनेके कारण उसमें परिग्रह भाव नहीं रहता। जैसे जो वस्त्र अकषायित हो तो उसमें रंगका सम्बन्ध होनेपर भी रंग बाहर-बाहर लोटता है। वस्त्र रंगनेके लिए पहिले मजीठा वगैरहमें भिगोया जाता है। जैसे आजकल केलव फिटकरीमें भिगो दिये जाते हैं और फिर उनपर रंग चढ़ाया जाता है। यदि किसी वस्त्रको हर्षा औरफिटकरीके पानीमें न भिगोया जाय, खाली पानीमें भिगोया जाय सो वस्त्र पर रंग न चढ़ेगा। अगर उसे फींचकर धो दो तो रंग छूट जाता है। इसीलिए यह कहावत है कि हर्षा लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय। सो ऐसा नहीं हो सकता है। जिस वस्त्रमें कषायित्व नहीं किया गया है उस वस्त्रमें रंग चढ़ता नहीं है। इसी प्रकार जिस पुरुषमें रागरस नहीं है उस पुरुषमें

कर्म और बाह्य उपाधिपरिग्रह नहीं बन सकते हैं। यह परिग्रह केवल बाहर लोटता है, दिखता है। सम्बन्ध किया जाता है, फिर भी अन्तरमें मिली नहीं है। इसका कारण क्या है कि ज्ञानी पुरुष स्वभावसे ही स्वरसतः ही सर्वरागसे हटे हुए स्वभाव वाला है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ भी तन, मन, वचनकी क्रियावोंके बीच में पड़ा हुआ भी उन सर्वकर्मोंसे लिप्त नहीं होता है। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए यह गाथा आ रही है।

**गाणी रागघ्नजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिपदि रजयेण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥ २१८ ॥**

ज्ञानीकी रागत्यागशीलता—ज्ञानी पुरुष कर्मोंके बीच पड़ा हुआ भी तन, मन, वचन की चेष्टामें प्रवृत्त होता हुआ एक सर्व द्रव्योंमें रागको छोड़े रहनेके स्वभाववाला है। जैसे कि स्वर्ण कीचड़के बीच पड़ा हुआ भी रजसे लिप्त नहीं होता है। सोने और लोहेमें यही एक अन्तर है कि लोहा कीचड़में पड़ा हुआ हो तो वह जंगको खींच लेता है; किन्तु स्वर्ण जंगको स्वभावसे छोड़े रहने वाला है। १०० वर्ष तक स्वर्णको कीचड़में पड़ा रहने दिया जाय तो उसपर जंग नहीं चढ़ती। ऊपरसे कीचड़ चिपटा है, धो दिया, बस स्वच्छ स्वर्ण निकल आया। स्वर्णमें रज खींचनेका, जंग लेनेका स्वभाव ही नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको रागरस लेनेका स्वभाव नहीं है। स्वर्णमें जंग लेनेका स्वभाव नहीं है, सबको स्पष्ट मालूम है। ऐसा ही स्वभाव उस ज्ञानीमें इस पद्धतिका हो गया है कि वह रागरस ले ही नहीं सकता है।

रागर रिक्तताकी उदाहरणपूर्वक सिद्धि—जैसे किसी पुरुषका इष्ट गुजर जाय तो उस कालमें वह भोजन रस ले ही नहीं सकता है। उसे जबरदस्ती खिलावो, मगर दिल तरसा हुआ है अत्यन्त व्याकुल है। सो भोजन भी करता जा रहा है पर स्वाद पता नहीं है। उस भोजनमें रागरस नहीं ले सकता है। तो कोई ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो उपभोग करते हुए भी रागरस नहीं ले सकते हैं। किसी बालकसे जबरदस्ती कोई काम करावो, उसके मनमें नहीं है तो आपकी जबरदस्तीसे उसे करना पड़ रहा है, मगर उस बालकमें रागरस नहीं है। उस काममें, उस चीजमें उस बालकका परिग्रह नहीं बन रहा है। जैसे स्वर्ण करदमके बीचमें पड़ा हुआ उससे लिप्त नहीं होता है; क्योंकि करदमसे लिप्त हो जाने का स्वर्णमें स्वभाव ही नहीं है अथवा करदमसे न लिपट सकनेका स्वर्णमें स्वभाव पड़ा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है। वह समस्त परद्रव्यकृत रागका त्याग किए रहनेका स्वभाव रखता है।

रागरसका शोषक सम्यग्ज्ञान—ज्ञानी जीव कर्मोंसे अलिप्त रहनेका स्वभाव वाला होनेसे ज्ञानी ही है। पर ज्ञानी हो तब की यह बात है। कोई मुखसे कह दे या सुना-सुनाया बोल दे, या विषयका ज्ञान है सो बोल दे, उससे रागरस न सूखेगा। रागरसको सोखने वाला सम्यग्ज्ञान ही है। यथार्थ ज्ञान बिना रस सूख नहीं सकता है। और जब तक रागरस न सूखे तब तक जीव संकटमें है। सभी जीव संकट-संकटमें ही तो बसे जा रहे हैं। वे रागरस नहीं छोड़ना चाहते हैं। मर जायेंगे,

सब कुछ छूट जायगा, मगर अपने मनसे रागरस नहीं छोड़ना चाहते। फल इसका क्या होगा कि संसारकी संतति ही बढ़ेगी। जहाँ ज्ञान हो वहाँ रागरस रह ही नहीं सकता।

रागरसशोषणविधिपर एक दृष्टान्त—राजबार्तिकमें एक दृष्टान्त बताया है कि कोई पुरुष व्यभिचारी था और उस ही पुरुषकी माँ भी व्यभिचारिणी थी। तो पुरुष तो किसी दूसरी स्त्रीसे राग रखता था और उसकी माँ किसी दूसरे पुरुषसे ही राग रखती थी। अंधेरी रात्रिके समयमें उसकी माँ चली अपने इष्ट जगहके लिए और यह पुरुष चला अपने इष्ट जगहके लिए। रात्रिमें एक स्थानपर ये दोनों मिल गए। माँको यह ध्यान था कि यह वही पुरुष है जो हमारा इष्ट है और पुरुषको यह ध्यान था कि यह वही स्त्री है। देखो रागरस पनप गया ना। इतनेमें एक बिजली चमकी। और बिजलीकी क्षणिक चमकसे उस पुरुषने पहिचान लिया कि यह तो मेरी माँ है, माँने पहिचान लिया कि यह मेरा बेटा है। तो उस बिजलीके चमकनसे यथार्थ ज्ञान होनेसे दोनोंके रासरस नहीं रहा। पहिले रागरस था, दोनोंमें रागरस था। अब ज्ञान होनेपर रागरस सूख गया। अब वे दोनों सोचें कि यह आखिर अंधेरा ही तो है, एकांत ही तो है, पहिले जैसा राग कर लें अपने हृदयमें, तो भैया ऐसा नहीं किया जा सकता है। असम्भव है; क्योंकि यथार्थ ज्ञान हो गया।

रागरसका मूल भ्रम—भैया! जब तक इन बाह्य पदार्थोंमें ऐसा भ्रम चल रहा है कि यह मेरा है इससे मेरा हित है, यह ही मेरा बड़प्पन रखता है, इससे ही मुझे सुख मिलेगा त तक इन बाह्य पदार्थोंमें रागरस रहता है। और जब वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाय कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपनी-अपनी स्वरूप सीमामें हैं, अपने स्वरूपसे बाहर न अपने गुण दे सकें, न पर्याय दे सकें, एक-दूसरेका कुछ करनेके लिए सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसे स्वतंत्र स्वरूपास्तित्वका परिचय इन जीवोंको हो जाय तो ऐसे यथार्थ ज्ञानके होते ही इस ज्ञानी संतमें रागरस नहीं रह सकता। जब अज्ञानी था तब अपने कुटुम्बके लिए तो सारा दिल था, गैरोंके लिए कुछ भी दिल न था। ऐसी कठोरता उस ज्ञानी संतमें नहीं रह सकती है, क्योंकि अज्ञान हटनेसे रागरस सूख गया। भले ही प्रयोजनवश और गुजारेवश कुटुम्बसे रागमय वचनोंसे बोलता हो, पर अंतरमें उस ज्ञानीके रागरस नहीं रहा।

ज्ञानीके रागरसवर्जन—जैसे कोई छोटा बच्चा माँ से रहित हो जाय और कोई दूसरी स्त्री मौसी समझो, बुआ समझो या अन्य पड़ोसीकी स्त्री समझो उसे पालने लगे, उसका पालन-पोषण कर दे। अब वह १७-२० वर्षका हो गया। उसे यह मालूम हो जाय कि यह मेरी माँ नहीं है जिसने मेरी रक्षा की है, तो माँ जैसा रागरस उसके नहीं रहता। भले ही मोहवश राग बना रहें, कृतकृत्यतावश, पर मातृत्व जैसाराग नहीं रहता। वह कहेगा कि यह तो मेरी माँ से बड़ी है, यों भी कह देगा कि माँ बराबर है या माँ है, इतना तक कह देगा, फिर भी अन्तर यह कह रहा है कि मेरे उत्पन्न करने वाली यह माँ नहीं है। उसके अब रागरस नहीं रहता है। तो ज्ञानी जीवके चूँकि सर्व द्रव्योंमें रागरस नहीं रहता, इस कारण राग वर्जनशील होनेसे वह कर्मोंके बीच रहकर भी कर्मोंसे बँधता नहीं है।

ज्ञानीके वेद्यबन्धनका अभाव—भैया! करणानुयोगकी दृष्टिसे तो जितना राग शेष है उतना उसके बँधन है, पर संसारबँधनको बँधन मानकर यहाँ वेद्यका निषेध किया जा रहा है। अनन्तानुबँधी कषायके बँधका नाम यह बँधन है। अन्य बँधनोंका नाम यह बँधन नहीं है। पर करणानुयोगकी दृष्टिसे तो चाहे संज्वलनका ही बँधन हो, बँधन ही है, पर बाह्य संसारमें रस लेना ऐसा बँधन, ऐसा अध्यवसान, ऐसा उपयोग ज्ञानी आत्मामें नहीं होता है और जब इन संसार बढ़ाने वाले कर्मोंका बँध नहीं होता तो इसीके मायने हैं कि कर्मोंका उपार्जन नहीं करता। शरीरविषयक जो बँध है उस बँधको यहाँ गिनतीमें लिया ही नहीं है, दृष्टिमें लिया ही नहीं है।

रागरसरिक्तताके कारण ज्ञानीकी अबन्धकता—जैसे पानीमें चिकना कमलिनीका पत्र डाल दिया जाय तो कमलिनीका पत्र पानीसे अलिप्त रहता है। उसका पानीसे अलिप्त रहनेका स्वभाव ही है। परीक्षा करना हो तो उसे निकालकर देख लो। कागजको पानीमें डाल दो तो उसका स्वभाव तो पानीमें लिप्त होनेका है। यों कमलिनीका पत्र पानीसे लिप्त होनेका स्वभाव नहीं रखता है। इसी प्रकार ज्ञानी संत भी शरीरकी प्रवृत्ति कर रहा है। मनसे कुछ सोच भी रहा, वचनसे कुछ बोल भी रहा, पर सर्व पदार्थोंमें यथार्थस्वरूप स्वतंत्र स्वरूप समझ चुकनेके कारण किन्हीं दो पदार्थोंमें उसे रागरस नहीं आता। और बँधन जितने हैं वे रागरस के बँधन है, बाहरी पदार्थोंका बँधन नहीं है। जो स्त्री आपको बँधनरूप हो रही है, किसी कारणसे रागरस न रहे अथवा बिगाड़ हो जाय तो बँधन मिट जाता है। तो जितना भी बँधन है, परिग्रह है वह सब रागरसका है। ज्ञानीके रागरस है नहीं, इसलिए उसके परिग्रह नहीं है।

अण्णाणी पुण रत्तो सत्वदब्बेसु कम्ममज्झगदो।

लिप्पदि कम्परयेण तु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥ २१९ ॥

अज्ञानीकी रागरसनिर्भरता—जैसे लोहा कर्दमके मध्यमें पड़ा हुआ कर्मदसे लिप्त हो जाता है, जंग चढ़ जाती है, इसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ अर्थात् मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंमें लगा हुआ सर्व द्रव्योंमें अनुरक्त होनेके कारण कर्मरंगसे लिप्त हो जाता है। जैसे कि स्वर्णका स्वभाव कीचड़से अलिप्त रहनेका है, कीचड़में जंग न अपना लेनेका है, यहाँ कर्दमको अपना लेने के स्वभाववाला लोहा है। सो लोहा कर्दमके बीचमें पड़ा हुआ कर्दमसे लिप्त हो जाता है इसी प्रकार समस्त परद्रव्योंमें किए जाने वाले रागके ग्रहण करनेका स्वभाव होनेसे अज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ कर्मोंसे बँध जाता है, क्योंकि अज्ञानीका कर्मोंसे बँध जानेका स्वभाव ही है। ज्ञानप्रकाशकी ही ऐसी महत्ता है कि यथार्थ ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय फिर संसारके संकट, बँधन नहीं रहते।

बरबादीका कारण पर्यायबुद्धि—इस पर्यायके अहंकारने जगतके जीवोंका विनाश किया है। क्या है यह शरीर? अंतमें मिट्टीमें ही तो मिलेगा, राख ही तो बनेगा। इसको जो यह मोह किया जा रहा है, यह मैं हूँ। और इसको ही निरखकर मान-अपमान महसूस किया जा रहा है, इसने मेरा

यों सन्मान या अपमान किया। दुनिया जाने कि में सन्मानके लायक हूँ। किसमें सोचा जा रहा है? इस नाक कान हड्डीमें सोचा जा रहा है। उसमें ही अहंबुद्धि की जा रही है, इस प्रकार पर्यायमें अहंबुद्धि करने वाले जीव अज्ञानी हैं। उस अज्ञानी को कर्मोंसे लिपट जानेका स्वभाव है। यह अज्ञानी समस्त पदार्थोंमें राग ग्रहण करने का स्वभाव रखता है। सो कर्म रजसे बँधता चला जाता है। इस लोकमें जो जिस स्वभाव वाला है वह वेसा ही बनता चला जाता है। प्रकृति होनेसे उस वस्तुमें वैसे ही परिणमन की बात होती है। कोई किसीके स्वभावको बदल नहीं सकता। अज्ञानीके अज्ञान स्वभावको न आचार्य बदल सकते, न भगवान बदल सकता, न उपदेश बदल सकते। और बदल जायें तो वह अज्ञानी ही बदल गया। ज्ञानी हो गया जब वह ज्ञानस्वभाव प्रकट हुआ। किसी रिश्तेदारपर कोई भ्रमका संकट हो जाय या इष्टवियोगका क्लेश हो जाय तो समझाने वाले रिश्तेदार परेशान हो जाते हैं। किसी इष्टका दिमाग फेल हो जाय, अटूट-संटूट बकने लगे तो उसके हितू रिश्तेदार समझानेमें प्यार करते-करते परेशान हो जाते हैं और सोचते हैं कि यह मेरा भतीजा है और मैं ही इसे ठीक नहीं कर सका। मेरा ही यह साला बहनोई है और मैं चाहता हूँ कि सारा धन खर्च हो जाब, सब कुछ इसके लिए है लेकिन इसे हम कुछ कर नहीं पा रहे हैं। कोई पुरुष किसी दूसरेका कुछ कर नहीं सकता। कोई किसीका स्वभाव बदल नहीं सकता।

अपनी सावधानीमें ही अपनी रक्षा भैया! जो खुद न्याय और सदाचारसे रहेगा वह सो सुखी रहेगा। जो अपने न्याय, ज्ञान, सदाचारको छोड़ दे, पुण्यके उदयकी ठसक में आकर अपनेको स्वच्छन्द बना लो तो उसका सहाय कोई नहीं है। जो जितना ऊपरसे गिरता है उसके उतनी अधिक चोट लगती है, जो ऊँची स्थिति पाकर फिर निन्द्य आचरणको करता है उसको उतना ही अधिक क्लेश होता है। कोई किसीके स्वभावको बदल नहीं सकता। किसीके स्वभावको किसी अन्यके स्वभावकी तरह करना चाहे तो कर नहीं सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि ज्ञान तो निरन्तर ज्ञानरूप रहता है और अज्ञान निरन्तर अज्ञानरूप रहता है। जब तक अज्ञानी है तब तक इस अज्ञानी जीवके अज्ञानका ही बँधन है। हे ज्ञानी जीव! तू ज्ञानमात्र रह, कर्मोदयजनित उपभोगको भोग, पर अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिको न छोड़।

बन्धन और क्लेशका मूल स्वयंका अपराध देख भैया! तेरा बँधन तेरे अपराध से ही होता है। परद्रव्य मिल गए, परका उपभोग हो गया इससे बँधन नहीं होता। परके अपराधसे किसीको बँधन नहीं होता। जिसको बँधन होता है उसको अपने ही अपराधसे होता है। अपराध करनेका अज्ञानीके स्वभाव पड़ा हुआ है। वह अपराधपर अपराध किए जा रहा है और दोष देता है अन्य पदार्थोंको अमुक पदार्थने ऐसा कर दिया। अमुक न होता तो मेरा बिगाड़ न होता। दूसरे पदार्थके होने न होनेसे इसका बिगाड़ नहीं है। इसका बिगाड़ तो इसके स्वयंके अपराधसे है। उपभोगसे बँधन नहीं होता। बँधन रागसे होता है। इस ही बातको अब आगेकी ५ गाथावोंमें समझाते हैं।

भुञ्जंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
 संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं ॥ २२० ॥
 तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
 भुजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥ २२१ ॥
 जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
 गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२ ॥
 जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
 गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२ ॥
 तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
 अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥ २२३ ॥

ज्ञानीको अज्ञानमय करनेमें उपभोगमें सामर्थ्य जैसे अनेक प्रकारके सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्योंको भक्षण करने वाले शंखके श्वेत स्वभावको काला कर देनेकी सामर्थ्य उन खाये जाने वाले पदार्थोंमें नहीं है इसी प्रकार अनेक प्रकार सचित्त, अचित्त और मिश्रित द्रव्योंको भोगने वाले ज्ञानीके ज्ञानको भी अज्ञानमय करनेकी सामर्थ्य उन भोगे जाने वाले पदार्थोंमें नहीं है ।

शंखका स्वरूप—शंख एक कीड़ा होता है जो शंखके भीतर होता है । जीवके शरीरकी हड्डी चमड़े भीतर होती है पर शंखकी हड्डियाँ भी शंखके कीड़ेके शरीरके भीतर रहती हैं और ऊपरसे खोल भी एक हड्डीके मानिन्द है, किन्तु वह घर जैसा है । उस शंखमें कीड़ा रहता है । जिस शंखको लोग बजाया करते हैं वह शंख भी एक घरके मानिन्द है । उसमें कीड़ा रहता है और वह कीड़ा जिन्दा अवस्थामें भी शंखसे बाहर हो जाता है, किन्तु बाल बराबर पीछे जुड़ा रहता है, पूरा कीड़ा बाहर निकल आता है फिर वही कीड़ा उस शंखमें घुस जाता है । तो यह शंख कुछ ऐसी विचित्र हड्डी जैसी बात है कि जिसे हड्डी जैसा अपवित्र नहीं माना और पवित्र भी नहीं माना । लोकव्यवहारमें शंख, सीप, कौड़ी ये कीड़ेके घर हैं, सो हड्डी होते हुए भी चूँकि यह चमड़ीके भीतर नहीं होता है इस कारण लोकव्यवहारमें इसकी परहेज अधिक नहीं है । कोई विशेष तर्क वाला या शुद्धिका पक्ष रखने वाला इससे बचता है पर अमूमन लोग इसका प्रयोग करते हैं । उस शंखकी बात यहाँ कही जा रही है ।

पद्रव्यके उपभोगसे रंगका अपरिवर्तन—शंखके अन्दर रहने वाला कीड़ा यदि काली मिट्टी खाये तो क्या शंख काला हो जाता है? नहीं । वह तो सफेद ही रहता है । तो काली मिट्टीका भोग कर लेनेसे उस शंखके रंगपर कोई फर्क नहीं आया । और शंखका ही क्या, आप हरी भाजी खाते हैं तो क्या आप लोग हरे हो जाते हैं । तो द्रव्यके उपभोगसे यहाँ रंग में बदल नहीं होती है । हाँ कभी शरीर ही कमजोर हो रहा हो और पीला हो रहा हो कमजोरीसे, या काला बन रहा हो तो कैसी हो लाल चीज खाये तो क्या लाल बन जायगा? परद्रव्योंके उपभोगसे रंग नहीं बदलता है । शंखमें परद्रव्योंके उपभोगसे रंग नहीं पलट जाता ।

परके द्वारा परके भावके परिवर्तनका अभाव—इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष परिवारका अनुराग करे, धनका संचय करे और भी मिश्र चीजोंका अनुराग करे, उपभोग करे तो भी ज्ञानी जीवके ज्ञानको ये पदार्थ अज्ञानमय नहीं कर सकते, वह ज्ञानी अपने ही अपराधवश ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञानमय बन गया तो बन गया किन्तु किसी परद्रव्यमें ज्ञानीको अज्ञानमय बनानेकी सामर्थ्य नहीं है। किसी आचार्य, गुरु और भगवानमें भी अज्ञानीको ज्ञानमय बनानेकी सामर्थ्य नहीं है। ज्ञानी ज्ञानमय भावको छोड़कर मिथ्यादृष्टि हो जाय तो अज्ञान स्वभावमें चलेगा और अज्ञानी अज्ञानमय भावको छोड़कर सम्यक्त्वरूप परिणम जाय तो ज्ञानस्वभावमें चलेगा।

स्वीपराधकृत बन्धन—हे ज्ञानी! तू अपने अन्तरकी दृष्टिको सम्हाले रह। तेरी दृष्टि सम्हली हुई रहेगी तो सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्योंको उपभोगता हुआ भी तू अज्ञानमय न बनेगा। याने तेरे अज्ञानकृत बँध नहीं होगा। परद्रव्योंके अपराधसे तुझे बँधन नहीं हुआ करता। तेरे ही अपराधसे तेरा बँधन हुआ करता है। और जैसे वही शंख जिस समय अपने उस स्वभावको (श्वेत स्वभावको) छोड़कर कृष्णस्वभावको प्राप्त होता है तो शुक्लपनेको छोड़ देता है, इसी प्रकार ज्ञानी भी निश्चयसे जब अपने उस ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञान रूप परिणमन करता है उस समय अज्ञानपनेको प्राप्त होता है। तेरी सम्हाल तेरे पास है तो इस लोकमें किसी अन्यका तुझे भय नहीं है। तेरी सम्हाल तेरे पास नहीं है तो तेरे भय, शंका संकटके लिए कोई भी पदार्थ निमित्त हो सकते हैं।

अज्ञान स्वयं आपत्ति—किसी पति पत्नीका नाम बेवकूफ और फजीहत था। फजीहत लड़ाई करके घरसे भाग गई। बेवकूफ लोगोंसे पूछता है कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी है। लोगोंने कहा नहीं देखी। एक अपरिचितसे पूछा कि तुमने हमारी फजीहत देखी है? वह मतलब ही न समझ सका। पूछा तुम्हारा क्या नाम है? बेवकूफ। अरे बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतको ढूँढ़ते हो। बेवकूफी ही तो फजीहत है। ज्ञानी जीव ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानी बन जाय तो यह अज्ञानपन ही स्वयं बँधन है। परका बँधन मत समझो।

बन्धनके परापराधनिबन्धनताका अभाव—जैसे परद्रव्योंका उपयोग करते हुए शंख के श्वेत भावको काला करनेकी सामर्थ्य किसी भी परमें नहीं है क्योंकि परपदार्थ किसी अन्य परपदार्थके परिणमन करनेका निमित्त नहीं बन सकते। इसी प्रकार ज्ञानी जीव जो परद्रव्योंका उपभोग करता है उसके ज्ञानको अज्ञान कर देनेकी सामर्थ्य किसी परपदार्थमें नहीं है। कोई भी परपदार्थ परभावको निष्पन्न नहीं कर सकते। इस कारण ज्ञानी जीवके परपदार्थोंके अपराधके निमित्तसे बँध नहीं है। यह ज्ञानी जीव स्वयं ही किसीका विकल्प बनाकर ज्ञानभावको छोड़ दे और अज्ञानभावको अपना ले तो बँधनमें पड़ता है।

अपना अपनेमें असर—एक देहाती पुरुष अदालतमें जजके पास जाता है तो वह काँपता हुआ जाता है और एक शहरका प्रमुख जजके पास जाता है तो एक शानके साथ जाता है और जज पर दबाव डालता हुआ जाता है। वह देहाती जो घबड़ा गया तो क्या जजके शरीरके कारण घबड़ा गया?

जजकी किसी चेष्टाके कारण घबड़ा गया? वह देहाती स्वयं मूर्ख था, कमजोर था, कम दिल वाला था, नासमझ था। उसने अपनेमें विकल्प बनाया, मैं जा रहा हूँ, कैसे बोलूंगा, क्या होगा, क्या मैं ठीक भी रह पाऊँगा सो अपनी कमजोरीसे वह घबड़ा गया। कोई जजका असर नहीं पड़ गया उस देहाती पर। जजके होनेके अपराधसे कहीं देहातीकी धोती नहीं ढीली हुई हैं उसके ही अपराधसे उसे दुःख पहुँचा है। घरमें १०-५ आदमी रहते हैं, वहाँ परस्परमें कोई बातपर विवाद हो गया, झगड़ा हो जाय तो एककी दृष्टि दूसरेपर रहती है। इसने मुझे यों तंग किया। इसने मुझे यों दुःखी किया। अरे दूसरेने तंग किया ही नहीं। दूसरा हैरान कर ही नहीं सकता। जरा वस्तुस्वरूपको सम्भालो। इस समयमें जितना दुःख हो रहा है वह सब हमारे ही अपराधसे हो रहा है। अज्ञानी रागभाव करता है और दुःखी होता है।

स्वापराधसे ही बन्ध होनेका नियम—जैसे वह शंख जिस समय काली, पीली मिट्टी को खा रहा हो या न खा रहा हो वह शंख अपनी श्वेत पर्यायको छोड़कर कृष्णपर्यायरूप में परिणम जाय तो वह श्वेत परिणमन स्वयं कृष्णरूप हो जाता है। इसी प्रकार वह ज्ञानी पुरुष परद्रव्योंको भोगे अथवा न भोगे, जब ज्ञानको छोड़कर स्वयं अज्ञानकी परिणति से रूप परिणमता है तो इसका ज्ञान स्वयं अज्ञानरूप होता है। इस कारण यह निर्णय रखिये कि ज्ञानी जीवके जब कभी बँध होगा तो अपने ही अपराधसे होगा। ज्ञानीकी ही क्या सभीकी यह बात है। ज्ञानी जीवके जो बँधन होता है। वह उसके ही अपराधसे होता है। जब अपने ज्ञानभावको छोड़कर अज्ञानभावमें परिणमता है तो उसके बँधन हो जाता है, यहाँ यह भाव लेना। इसी प्रकार जब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है तो कर्मोंके क्षयोपशम से होता है। उसकी भी अवधि होती है। क्षयोपशम मिटकर यदि उदय आ जाय तो सम्यक्त्व बिगड़ जाता है। यह निमित्तकी ओरसे उत्तर है। पर यहाँ उपादानकी ओरसे प्रश्नोत्तर किया जा रहा है।

उपादान और निमित्तकी ओरसे विपरिणमनके उत्तरका दृष्टान्त—यह अंगुली सीधी है, देखो जब सीधी अंगुली होती है तो घी नहीं निकलता है, और जब टेढ़ी हो गई तो घी निकलनेका काम होने लगा। कोई कहे कि सीधीसे टेढ़ी अंगुली क्यों हो गई तो सामने बता दो कि यों हो गई। अब उसमें क्या बात बताई जाय, इसीमें ही इसके परिणमनसे यों परिणमन हो गया। उपादानकी ओरसे तो यह उत्तर है और निमित्तकी ओरसे यह उत्तर है। कि इस जीवने इच्छा उत्पन्न की कि टेढ़ी अंगुली करूँ और घी निकाल लूँ। अब इच्छाका निमित्त पाकर आत्मामें योगका परिस्पंद हुआ, और जिस प्रकार योगका परिस्पंद हुआ उसके ही अनुकूल शरीरमें हवा चली और उसके ही अनुकूल फिर उसके नशाजालोंमें क्रिया हुई और यह अंगुली टेढ़ी हो गई।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि जैसे लोग यह मानते हैं कि परद्रव्योंके भोग और उपभोगसे बँधन हुआ करता है वहाँ यह दृष्टि दिलाई जा रही है कि परद्रव्योंके भोग उपभोग में बँधन नहीं होता, किन्तु उस कालमें जो अज्ञान भाव चल रहा है उस अज्ञानपरिणामसे बँधन होता है। यदि

यह बात समझमें न आई तो धर्मके नामपर केवल परद्रव्योंका त्याग बिगाड़ करता रहेगा, अपने आपके परिणमनेकी दृष्टि ही न जायगी। जैसे कि बहुधा किसी पुरुषको या स्त्रीको धर्म करनेका भाव सवार होता है तो घहने छोड़ दिया, अमुक कपड़े छोड़ दिया, यह छोड़ दिया, वह छोड़ दिया, खाना पीना ऐसी शुद्धिसे करेंगे। सो किसी बातमें यदि भंग होता है तो क्रोध आने लगता है। इसने हमारा धर्म बिगाड़ दिया।

अज्ञानसे बन्धनरूप अधर्म—बहुत समय पहिलेकी बात है ऐसे ही एक बार हमारे मनमें खेलकी बात उपजी। और एक थे क्षुल्लक जी। साथ ही साथ रहते थे बहुत दिन तक। वे जरा ऊपरी बातें ज्यादा रखते थे। तो हमने हाथमें चवन्नी ली। तब तो हम पैसा छूते ही थे। तो हमने कहा देखो महाराज आज हम तुम्हें बहुत बढ़या चीज देंगे। उन्होंने हाथ खोल दिया। हमने उनके हाथमें चवन्नी धर दिया। इतनेमें वे बिगड़ गए, बोले तुमने हमारा धर्म बिगाड़ दिया। हमने कहा कि अगर हमने धर्म बिगाड़ा है तो अपना ही बिगाड़ा है तुम्हारा नहीं बिगाड़ा है। हमने यह भाव किया, इच्छा किया कि खेल करूँ और कुछ मन बहलाऊँ तो अपराध हमारा है, हमारा ही धर्म बिगड़ा, आपने तो अपने परिणाम बिगाड़ा नहीं। तो प्रतिसमय जो बँधन होता है वह अज्ञानसे होता है और जो धर्म होता है वह ज्ञानसे होता है।

बन्धनकी स्वापराधिनिमित्ता—भैया! यहाँ यह बात जानो कि परद्रव्योंके भोग उपभोगकृत बँधन नहीं हैं और परद्रव्योंके भोग उपभोगके त्यागसे कहीं बँधन नहीं मिट गया। इसमें यद्यपि वे परद्रव्योंके भोग उपभोग निमित्त हैं, पर निमित्त होनेपर भी बँधन जो होता है वह अन्यके विषयके रागकृत बँधन होता है, भोगकृत बँधन नहीं है। तीन कालमें भी भोगोंसे बँधन नहीं हो सकता है। भोगोंके समयमें जो राग है उससे बँधन होता है इस प्रसंगसे स्वच्छन्द होकर यह बात नहीं लेना है कि भोग करना बँधन नहीं है इसकी स्वयं आगे बात कहेंगे और डाट-डपट दिखायेंगे उस जीवको जो बड़ोंकी बात सुनकर अपनेमें लागू करता है। जो चाहे कि मैं स्वच्छन्द बन जाऊँ ऐसी जीवको कलके प्रकरणमें डाट-डपट दिखाई जायगी। आजके प्रकरणमें वस्तुका स्वरूप बताया जा रहा है। बँधन होता है तो अपने अज्ञान परिणामसे होता है, रागद्वेष मोह होना यह सब अज्ञान परिणाम ही तो है। इसमें ही बँधन है। इसलिए अपनी बात समझालो, अपने ही अपराधसे अपनेको बँधन होता है।

बाह्यमें कुछ करणीयका अभाव—आचार्यदेव यहाँ ज्ञानी पुरुषको सम्बोधते हैं कि हे ज्ञानी! तुझको कुछ भी कर्म कभी करने योग्य नहीं है तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरे तो कदाचित नहीं हैं और मैं भोगता हूँ। यदि ऐसा तेरा आशय है तो यह बड़ा खेद है। जैसे कि लोक चर्चावोंमें कहने लगते हैं कि क्या करें भैया चरित्रमोहनीयका उदय है। उनका भाव यह है कि मेरे मात्र चारित्रमोहका उदय है कि मिथ्यात्वका उदय है। जैसे लोग जब पूछने लगते हैं कि आप तो पहिले बड़े वैराग्यकी बातें किया करते थे, धर्ममें आपका बड़ा चित्त लगता था। अब कैसी हालत बना ली है कि इन

बातोंमें कुछ समय नहीं देते। तो सीधा कानून बोल देते हैं कि चारित्रमोहनीयका उदय है याने मिथ्या तो हम नहीं हैं, लक्ष्य तो हमारा ठीक है पर चरित्र मोहनीयका उदय है, सो ब्रत, नियम, संयम, त्याग नहीं हो पाता है। ये वचन तुम्हारे स्वच्छन्दतासे भरे हुए हैं या तुम अन्तरमें खेदके साथ बोल रहे हो? जरा इसकी परीक्षा तो करो।

कामनाके सदभाव व असदभावकी निरख। भैया! यहाँ प्रायः स्वच्छन्दतासे भरे हुए वचन निकलते हैं। भीतरके खेदके साथ, पश्चात्तापके साथ ये वचन निकलें तो शोभा है। यह जीव करना तो कुछ चाहता नहीं है धर्मकी बात और बातें बनाता है इसे कहते हैं स्वच्छन्दता। तू यह कह रहा है कि परद्रव्य मेरे कुछ भी नहीं है और मैं भोगता हूँ। अरे जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है तो तू खोटा खानेवाला है, खट्टा खाने वाला है, धोखेमें पड़ा हुआ है। हे भाई तू यह कहता कि परद्रव्योंके उपभोगसे बँध नहीं होता, इसलिए भोगता हूँ। बात कलकी आ रही है। कलकी बात पकड़कर स्वच्छन्द होकर यह भोगनेकी बात कर रहा है कि तुम्हींने तो बताया था आचार्यदेव! कि उपभोगको भोगनेसे बँध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ। उस स्थितिपर तू यह सोच कि तुम्हें भोगनेकी इच्छा है या बिना इच्छा बिना भोग रहे हो। यदि भोगनेकी इच्छा बिना ज्ञानरूप होता सन्ता अपने स्वरूपमें निवसकी दृष्टि रखता हुआ भोगता है तो बँध नहीं है और जो भोगनेकी इच्छा करेगा तो वही इच्छा तो अपराध है। सो अपने अपराधसे नियमसे बँधको प्राप्त होता है।

स्वयं गुण बताना गुणहीनताका लक्षण। दूसरे ज्ञानीपुरुष करें कुछ भी, पर उसके अन्तरमें इच्छा नहीं है यदि ऐसा कहें तो बात कुछ ढंगमें आती है और यदि अपने बारेमें ऐसा कहें कि हम कुछ अपराध नहीं करते तो वहाँ कुछ इच्छासे ही बोल रहे हैं जो अपने बारेमें यह बात घटित कर रहे हैं। जैसे दूसरेको कोई चीजके लिए संकेत कर दे कि इन भाई साहबको लड्डू परोस दो तो बात खप जायगी पर भाई साहब हमें लड्डू परोसना यह बात तो न खपेगी। हम ज्ञानी पुरुषके बारेमें तो सोच सकते हैं कि धन्य है ज्ञानका माहात्म्य कि जिस ज्ञानकरिणकाके कारण इनके बँध नहीं हो रहा है, देखो करनेमें सब खटपटें आ रही हैं पर भीतरमें ऐसा है कि बँध नहीं होता है। अपने बारेमें सदा अपने अपराध ही देखे, और दूसरोंके सदा गुण देखे।

अपनी महिमा जतानेसे अवनति। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके गुण भी हैं और दोष भी हैं, जो रागादिक हैं वे दोष हैं, और जो दृष्टि निर्मल हैं वे उसके गुण हैं। दूसरे हम ज्ञानी पुरुषके गुण ही देखा करें और अपनेको देखनेका यदि अवसर बनाएँ तो अपनेमें दोष देखा करें। मेरेमें ये दोष है, मेरेमें ये दोष हैं, गुण हैं, सो वे रहने दो। गुणोंके बतानेसे गुणोंपर अपना गौरव करनेसे गुण हल्के हो जाते हैं। गुणोंमें भी खूबी नहीं रहती इसलिए अपनेमें दोष देखो और दूसरे ज्ञानीके गुण निरखो। दूसरे ज्ञानीके गुण निरखना भी अपने ही गुणोंको समर्थन है। पर अपने ही गुणोंको निरखकर समर्थन न करो। दूसरोंके गुण निरखकर अपने गुणोंका समर्थन कर लो।

ज्ञानरूप बसनेकी ऋषियोंकी सम्मति—हे ज्ञानी! पुरुष तू अपने अन्तरमें यह निरख कि तेरे भोग भोगनेका कामचार है या नहीं? इच्छा है या नहीं? यदि इच्छा है तो बँधको ही प्राप्त होगा। इसलिए तू केवल एक यह कार्य कर कि ज्ञानस्वरूप रहते हुए ठहर जा। एक ही बातकी हठ इसे करना है, टन्नाकर रह जाना। कुछ यहाँ वहाँकी फिक्र नहीं, कोई बात नहीं, टन्नाकर रह गए याने एक ही दृष्टि करके रह गए। तू तो अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारता जा। होता क्या है इस ओर तू उपयोग न दे। यदि ज्ञानस्वरूप नहीं निहार सकता, ज्ञानरूप नहीं बस सकता तो अपने ही अपराधसे तुम्हें नियमसे बँध है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

ज्ञानीके कामचारके अभावपर एक दृष्टान्त—ज्ञानी जीवके यह बात सम्भव ही है कि कार्य कर रहा है, भोग भोग रहा है पर अन्तरसे उसके इच्छा नहीं है। जैसे किसीके इष्ट वियोग हो गया बहुत ही प्यारा, बहुत ही सरल, एक मात्र सहारा था वह गुजर गया। जिसे कहते हैं दीपक बुझ गया, उसके दुःखका क्या ठिकाना है, रात दिन पागलसा फिरता है, लेकिन एक दिन भूखा रह जाय, दो दिन भूखा रह जाय, खाना पड़ता है, रिश्तेदार जबरदस्ती खिलाते हैं, खाता जाता है, आँसू ढलकाता जाता है, रोता जाता है, खानेकी इच्छा नहीं है, यह स्थिति उसकी आ जाती है।

ज्ञानीके कामचारका अभाव—इसी प्रकार जिसको यह सारा संसार मायारूप दिख गया, अन्तरमें परमार्थके अवलोकनकी तीव्र भावना हो गई उसे सर्वत्र कहीं सार नहीं दिखता और एक आत्माके ज्ञायकस्वभावके अवलोकनमें जो उसे आनन्द मिला है उसमें स्मृति बनी रहती है, ऐसे उस आनन्दके रुचिया ज्ञानीपुरुष बाह्य परिस्थितिबश गृहस्थीमें रहते हैं तो भी न रहनेके बाराबर कहे जाते हैं। ज्ञानीको कार्य करना तो उचित ही नहीं है और जो परद्रव्योंको जानकर भी उसने भोगा तो यह भी योग्य नहीं है। परद्रव्योंके भोगने वालेको तो लोकमें चोर और अन्यायी कहते हैं। दूसरेके घरकी चीज उठा जाये और मौज मार रहे हैं उसे तो लोग अन्यायी कहेंगे ना, यह परमार्थपर अन्यायकी बात चल रही है।

भोगकी स्थितिमें भोक्ताका ही अनर्थ संभव—भैया! हम बाह्यपदार्थोंको, परद्रव्योंको समझ लें कि इनका स्वरूप न्यारा है, अस्तित्व जुदा है, मेरा ये कुछ परिणमन करते नहीं है, मैं उनका परिणमन करता नहीं। यह तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी बात है कि अन्य द्रव्योंका निमित्तमात्र पाकर उपादान परिणति बन जाती है, पर कोई पदार्थ अपने प्रदेशोंसे बाहर अपने गुण अपनी पर्याय कुछ नहीं कर सकता है। परद्रव्योंको अज्ञानी भी नहीं भोगता, किन्तु कल्पनामें मानता है कि मैं परद्रव्योंको भोग रहा हूँ। ‘भोगे तो भोग क्या हैं, भोगोंने भोगा हमको।’ हम भोगोंको क्या भोगते हैं, उन भोगोंका हमने क्या बिगाड़ लिया, पर भोगोंके द्वारा हम भुग गए, संसारमें रूल गए और विचित्र परिस्थितियाँ प्राप्त कर लीं। परद्रव्योंको कोई नहीं भोगता, भोगनेकी सामर्थ्य ही नहीं है, किन्तु अपनी ही कल्पनामें यह अज्ञानी परद्रव्योंको विषयमात्र करके अपने आपमें कल्पना बनाता रहता है। यही परद्रव्योंका भोगना कहलाता है।

स्वनिर्गत आनन्दमें परनिर्गतताका भ्रम—भैया! खा तो रहे खुदका और भ्रम हो जाय कि हम इनका खा रहे हैं तो खाने वाले यह समझते हैं कि मैं इन परद्रव्योंका भोग करता हूँ। ज्ञानी जीव भोग तो करता है अपने ही परिणमन का जो कल्पना उठी, जो विचार हुआ, जो तर्क हुआ, भोगता तो अपने ही परिणमनको है, पर भ्रम हो गया कि मैं परद्रव्योंको भोगता हूँ। उसकी ऐसी स्थिति है जैसी कि एक कथा रूपमें सुनिये।

परसे सुख माननेका एक दृष्टान्त—चार सगे भाई गरीब हो गए। कलके लिए खानेको भी नहीं। तो सोचा कि बुवाके पास चलें और १५-२० दिन अच्छी तरह खायेंगे, रहेंगे। सो बुवा उनकी बड़ी चतुर और कंजूस थी। सोचा कि अगर एक-दो दिन भी इन्हें अच्छी तरह खिला पिला दिया तो फिर ये कई दिन तक जम जायेंगे। सो आते ही खुश होकर बोली आ गए भैया? हाँ आ गए बोली क्या-क्या खावोगे? तो भैया बोले कि बुवा जी जो खिलावोगी सो खायेंगे। अच्छा तो तुम नहा आवो, मंदिर हो आवो, हम खाना तैयार करती हैं। वे सब कपड़े उतारकर एक धोती लेकर गाँवसे बाहर तालाबमें नहाने चले गए। वहाँसे २ घंटे बादमें आए, मंदिर गए, मंदिरमें २ घंटे लग गए। चार घंटे बाद वे खाना खाने पहुँचे। उन चार घंटोंके बीचमें बुवाने क्या किया कि भैयाके कपड़े और जेवर जो भी थे कोटोंमें सब उठाकर पड़ोसके एक बनयिके यहाँ ले जाकर ४०-५० रुपयेमें गिरवी रख दिया और उन रुपयोंमें शकर, घी, आटा सब खरीदकर ले आई। घरमें लाकर भोजन बनाया। पूड़ी कचौड़ी-हलुवा सब बनाया। अब वे चारों आ गए, भोजन करने बैठ गए। हलुवा-पूड़ी, पकौड़ी खाते जाएँ और कहते जाएँ कि बुवाने बहुत बढ़िया भोजन बनाया, तो बुवा बोली, खाते जावो, तुम्हारा ही तो माल है। लड़कोंने समझा कि खिलानेवाले ऐसा ही तो कहते हैं। उन्हें पता नहीं पड़ा कि बुवाने क्या किया है? सो कहते जायें कि बुवाने खूब बढ़िया खिलाया और कितनी विनयकी बातें बोल रही है। फिर एक दो बार प्रशंसा कर दिया। बुवाने कहा कि खूब खावो यह तुम्हारा ही तो माल है। जब खा चुके, कपड़े पहिने गए तो कपड़े न मिले। पूछा कि बुवा कपड़े कहाँ हैं? तो बुवा कहती है कि हम कहती थी ना कि खूब खावो यह तुम्हारा ही तो माल है। उसका मतलब था कि कपड़े और सारा सामन बनिया के यहाँ गिरवी रख दिया है और उनसे ही आप लोगोंको खिलाया है, सो सब खा तो रहे थे अपना ही और भ्रम था कि बुवाका खा रहे हैं।

अज्ञानीके परसे सुख माननेका भ्रम—इसी तरह यह अज्ञानी जीव भोग रहा है अपना ही परिणमन। परवस्तुके परिणमनको यह भोग नहीं सकता है। वहाँ तो गति ही नहीं है। परवस्तुको कोई नहीं भोगता है। भोगते हैं खुदको ही और भ्रम हो गया कि इन विषयभूत पदार्थोंको मैं भोगता हूँ। तो बाह्य पदार्थ जो भोगे नहीं जा सकते उनको जबरदस्ती अपनी कल्पनामें भोग रहा है, तो परके भोगने वालेको चोर और अन्यायी कहते हैं। तो यहाँ तो परमार्थसे चोर और अन्यायी हैं, वह जिसको आशय लगा हुआ है कि मैं परद्रव्योंको भोगता हूँ। पूर्व प्रकरणमें यह बात कही गई थी कि उपयोगसे बँध नहीं होता है। वह इस प्रकार समझना कि ज्ञानी बिना इच्छाके परकी परजोरीसे

उदयमें आए हुए को भोगता है, उसके बँध नहीं होता और जो इच्छासे भोगेगा सो इच्छा ही अपराध है उस अपराधके होनेपर बँध क्यों न होगा?

वाञ्छकको फलमें कर्मकी निमित्तता—भैया! और भी सोचिए कर्म अपने करने वाले कर्ता पुरुषको अपने फलके साथ जबरदस्तीसे तो नहीं लगाते कि तू मेरे फलको भोग, कोईसा भी कर्म हो, क्रिया हो, दूकान हो, तन, मनकी चेष्टा कर परोपकारका बर्ताव हो, कोई भी काम इस जीवको, कर्ताको अपने फलके साथ जबरदस्ती नहीं लगाता, किन्तु कर्मफलका इच्छुक होकर कर्मफलको करता हुआ यह जीव उस कर्मफलको पाता है। जो ज्ञानरूप हो, जिसके रागकी रचना न रहे, कर्म करते हुए कर्ममें रागरस नहीं है ऐसा संत ज्ञानी कर्मको करता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता, किन्तु न बँधते हुए कर्मको करता हुआ भी कर्मकमे फलके त्यागका उसके स्वभाव पड़ा हुआ है।

आशयभेदसे भवितव्यभेद—भैया! आशयके भेदसे सब बातोंमें भेद हो जाता है। एक पुरुष परोपकार इसलिए करता है, दुःखी जीवकी सेवा इसलिए करता है कि मुझे पुण्योदयसे पाये हुए सुखमें आसक्ति न हो जाय और संसारके दुःखका मुझे ध्यान बना रहे। और इन शुभ सेवावोंमें समय लगनेसे विषयकषायोंका मुझे अवसर न रहो, ऐसी सेवा करने को शुभ आशय कहते हैं। और कोई ऐसा भी आशय रख सकता है कि मैं कुछ दीन-दुःखियोंके कामकी बात बनाऊँ तो लोकमें मेरा नाम होगा। इलेक्शन में खड़े होंगे तो लोगोंका मुझपर आकर्षण होगा। लोग समझेंगे कि ये बड़े सेवाभावी हैं। यह आशय भी परोपकार करा सकता है। देखो भैया! आशयके भेदसे भवितव्यका भेद हो जाता है।

हितैषीका एक मात्र कर्तव्य—कर्मकर्ताको जबरदस्ती अपने फलके साथ नहीं जोड़ता, किन्तु कर्म करते हुए जो फलका इच्छुक है वही उसके फलका भोक्ता है। इस कारण ज्ञानी ज्ञानरूप होता संता कर्मोंके करनेमें राग नहीं करता। उनके फलकी भविष्यमें इच्छा भी नहीं करता, ऐसे ही संत मुनि ज्ञानी कर्मोंसे नहीं बँधते। काम केवल एक ही करना है। एक ज्ञानस्वरूप अपने आपको देखो। यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य कुछ करता नहीं हूँ, अनुभवके अतिरिक्त और कुछ भोगता नहीं हूँ, इस तरह अपनेको ज्ञानमात्र निरखो, यही एक काम करना है। इस एक कामके करनेमें वे सब बातें आ जाती हैं जो हमें नहीं करनी हैं।

ज्ञानमात्रके ग्रहणमें सर्वपरपरिहार—जैसे वनस्पति लाखों किस्मकी हैं। कोई वनस्पतिका नाम लेकर त्याग करे तो वह त्याग नहीं कर सकता है। और उनमें से १०-५ का नाम लेकर यह कहे कि बाकी का त्याग किया, तो १०-५ नाम रखनेका ही अर्थ यह हुआ कि लाखों वनस्पतियोंका त्याग किया। इसी प्रकार हमें किन-किन दुर्भावोंसे दूर होना है, हम दुर्भावोंको ढूँढ़ें और उन पर दुर्भावोंसे दूर होनेका यत्न करें तो हम दुर्भावोंका पार नहीं पा सकते हैं और न दुर्भावोंको दूर हो सकते हैं, किन्तु एक अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारें, ज्ञानमात्र निरखनेके परिणाममें शुद्ध आनन्दका अनुभव करें, यही एक काम मात्र करने योग्य है, शेष सब हेय हैं। इस प्रकार अन्य भावोंका त्याग करें तो त्याग हो सकता है।

ज्ञानीके संसारबन्धनका अभाव—ज्ञानी पुरुषोंको कर्मोंके उदयवश, परिस्थितिवश कुछ करना पड़ता है, करना पड़े, किन्तु उन कर्मोंमें रागरस नहीं है, वे कर्मफल भोगनेकी चाह नहीं रखते, इस कारणसे ये ज्ञानी जीव बँधको प्राप्त नहीं होते। यहाँ जो बँधका निषेध है वह द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे है। करणानुयोगी दृष्टिसे तो जितने अंशमें राग है इतने अंश में बँध है, जितने अंशमें राग नहीं है उतने अंशमें बँध नहीं है। पर इस प्रकरणमें संसारबँधनको ही बँधन कहा गया है। वह संसारबँधन, अनन्तानुबन्धीका बँध सम्यग्दृष्टिके कभी नहीं होता। न जगतेमें, न सोतेमें, न भोगतेमें, न किसी परिस्थितिमें। इस कारण यह ज्ञानी जीव उन कर्मोंके फलका रागरस छोड़े रहनेका स्वभाव रखता है, सो कर्मोंको करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता। अब इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए आगे चार गाथाएँ एक साथ कही जा रही हैं।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवये रायं।
 तो सोवि देदि राया विविहे भोये सुहुप्पाए ॥ २२४ ॥
 एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
 तो सोवि देदि कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२५ ॥
 जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
 तो सो ण देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२६ ॥
 एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
 तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाये ॥ २२७ ॥

कामना फलकी ग्राहिका—जैसे कोई पुरुष अपनी आजीविकाके लिए राजाकी सेवा करता है तो राजा भी सुखके उत्पादक नाना प्रकारके भोगोंको देता है। इसी प्रकार यह जीव पुरुष आत्मसुखके निमित्त यदि कर्मरजकी सेवा करता है; अर्थात् सुखकी आशा रख कर कर्म करता है तो वह कर्म भी इस जीवको सुखके उत्पादक नाना प्रकारके भोगोंको देता है। और जैसे वही पुरुष राजाकी सेवा कर रहा है पर कुछ चाह नहीं रहा तो वह राजा भी इसकी नाना प्रकारके भोगोंको नहीं देता। वह जानता है कि यह लगा ही नहीं। लेता ही नहीं तो उसका परिणाम देनेका नहीं होता है। अथवा आजीविकाके लिए राजा की सेवा न करे तो राजा क्या जबरदस्ती उसे कुछ दे देगा? नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष विषयोंके अर्थ कर्मरजकी सेवा नहीं करते तो वे कर्म भी नाना प्रकारके सुखोत्पादक भोगोंको नहीं देते हैं। इस प्रकरणमें यह दिखाया गया है कि कर्मफलकी चाह रखकर कर्मों को सेवें तो कर्म फल देते हैं और कर्मफलकी चाह न रखकर कर्म भोगें तो वे कर्मफल नहीं देते।

निष्काम कर्मयोग—भैया! निष्काम कर्मयोग जैसा कि अन्यत्र कहा गया है वह यहाँ बताया जा रहा है कि निष्काम कर्मयोगमें और जैनसिद्धान्तके इस निष्काम कर्मयोगमें अन्तर इतना है कि निष्काम कर्म करते हुए भी मुक्ति ज्ञानीसे ही मानी गई है। जब कि कोई लोग निष्काम कर्मसे ही मुक्ति मान लेते हैं। निष्काम कर्मकी स्थिति ज्ञानी जीवके बीचमें आती है ऐसा दिखानेके लिए इस

निष्काम कर्मयोगका यहाँ वर्णन है। पर कोई जैसे ज्ञानसे मुक्ति होती है ऐसे ही प्रभुभक्तिसे भी हो जाती है, निष्काम कर्मयोगसे भी हो जाती है। ऐसा माने तो मोक्षमार्ग अब सुनिश्चित एक नहीं रहा। मुक्ति ज्ञानभावसे ही होती है। निष्काम कर्म और प्रभुभक्ति मोक्षमार्गी पुरुषके मार्गके बीचमें आता रहता है। इसी प्रकार हे ज्ञानी जीव! तू अपनेको एक ज्ञानस्वरूप ही निरख।

सकामकर्मसे कर्मफलका दृष्टान्त—इसमें यह कहा जा रहा है कि सराग परिणामसे ही बंध होता है और वीतराग परिणामसे मोक्ष होता है। जैसे कोई किसी आजीविका आदिके रागसे, लोभसे राजाकी सेवा करता है तो राजा भी उस सेवकके लिए आजीविका ढंग देता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव पुरुष शुद्ध आत्माके अनुभवसे उत्पन्न हुए भावसे च्युत होकर उदयगत कर्मधूलिकी सेवा करता है विषय सुखके लिए तो पूर्वमें उपार्जित पुण्यकर्म रूपी राजा इस जीवको नाना सुख देता है। अथवा विषयसुखके उपासक भोगोंकी इच्छारूप रागादिक परिणामोंको देता है। राजाकी सेवा कोई करे धनके लोभसे तो राजा धन दे देगा। या धनका कोई ढंग दे देगा। जैसे आजकल लाइसेन्स दे दिया। कोई ऐसा उपाय दे दिया।

सकामकर्मसे कर्मफल—इसी प्रकार यहाँ कोई सुखके वास्ते विषय सुखके लिए कर्मों की सेवा करता है, कोई कार्य करता है तो पूर्वमें बंधा हुआ जो पुण्यकर्मरूपी राजा है वह इसे क्या दे देगा? रागादिक पुण्यकर्मका फल। पुण्यकर्मफल मुख्यतया राग है, सुख नहीं है। पुण्यकर्मके उदयमें रागका सुखसे मेल है, पर उदय पुण्यका हुआ और संक्लेश बन रहे हैं ऐसी भी तो स्थिति आती है। जैसे लाखों करोड़ोंका धन है जिसके पास तो उदय तो उसके पुण्य का चल रहा है पर उनकी अन्तरङ्ग स्थिति देख लो, बेचैन हैं, चिंतातुर हैं, रात्रिको नींद नहीं आती है, घबड़ाए हुए फिरते हैं, हवाई जहाजसे कहीं इधर भगे कहीं उधर भगे, ऐसी स्थिति है आजके करोड़पतियोंकी। तो पुण्यसे सुख मिल जाय यह तो जरूरी नहीं है पर पुण्यकर्मके सम्बन्धसे राग बढ़ जाय यह प्रायः सम्भव है। तो पुण्यकर्मसे राग परिणाम है जो शुद्ध आत्माका विनाश कर देता है।

फलकी समीक्षा—जैसे राजाने दिया क्या, उसने तो उसके तृष्णा बना दी। यदि वह गरीब ही रहता तो फंदमें न पड़ता, पर राजाने कुछ साम्राज्य दे दिया तो अब उसके तृष्णा हो गई, उसे दुःखी कर दिया। दूसरोंको धनी देखकर लोग ईर्ष्या करते हैं। अथवा किसी पुरुषको किसीसे बदला चुकाना हो तो वह उसे कुछ धनी बना देवे। इससे बढ़कर दुश्मनीका बदला और दूसरा नहीं हो सकता। क्या बदला चुकाया उसने कि उसकी जिन्दगी दुःखमय कर दिया। चैनसे नहीं रहता। गरीब रहता तो सुखसे साधारण कमाता और सुखी रहता।

वैभव शान्तिका अकारण एवं अनर्थकारी—भैया! क्या होगा बड़े-बड़े वैभवसे? आखिर मरना ही तो पड़ेगा, अन्य जन्म लेना ही तो पड़ेगा और यह जो झूठा वैभव है धन आदिक इसके पीछे पड़कर व्यर्थमें संक्लेश किया जा रहा है। शान्तिसे नहीं बैठ पाते हैं। इसका फल मिलेगा बुरा। वर्तमानमें भी शान्ति नहीं रह सकते। यदि धन हो व साथ ही धर्मबुद्धि हो तब तो गनीमत है और

धन हो, धर्मबुद्धि न हो तो वह धन क्लेश ही बढ़ाता है। नीतिकारोंका वचन है कि ये चार चीजें हैं, इनमें से एक भी हो तो जीवको बरबाद करता है। कौन-सी चार चीजें हैं? जवानी, धन-सम्पदा, प्रभुत्व और अज्ञान। खाली जवानी ही मनुष्यको बरबाद कर देती है। धन-सम्पदा भी मनुष्यकी बुद्धि हर लेती है। लोगोंमें अपना प्रभुत्व चले ऐसा प्रभुत्व भी बरबादीकी ओर ले जाता है और अज्ञान तो इस बरबादीका कारण ही है। ये एक-एक भी अनर्थ करने वाले हैं, किन्तु किसी पुरुषमें चारों बातें ही इकट्ठी हो जायें, जवानी भी हो, सम्पदा भी मिले, प्रभुत्व भी मिले और अज्ञान भी हो, चारों बातें यदि हों तो उसका तो फिर बेड़ा ही गारद हो गया। और ये चारों चीजें पुण्यसे मिलती हैं। जवानी, सम्पदा, प्रभुत्व और अज्ञान ये पुण्योदयसे ही मिले हैं। अज्ञान पुण्यके उदयसे भी मिलता है और पापके उदयसे भी मिलता है।

पुण्य और पापमें अज्ञानकी स्थिति व ज्ञानीकी पुण्य पापरहित निज स्वरूपमें आस्था पुण्य होना भी अज्ञान कहलाता है और पाप होना भी अज्ञान कहलाता है। कहो पापका उदय आनेपर ज्ञान सही सलामत बना रहे, लेकिन पुण्योदय होनेपर ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणत हो जाय। प्रायः ऐसा होता भी है। तो मिला क्या पुण्यके उदयमें? अनर्थ। और पापके उदयमें क्या मिला? अनर्थ। और शांति मिलती है तो धर्मदृष्टिसे मिलती है। अपने आपमें ऐसा विश्वास बना रहे अनवरत कि मैं तो ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ। भैया! अपने नामका विश्वास कैसा दृढ़ रहता है? कोई कहींसे भी नाम ले तो दे, कान खड़े हो जाते हैं। हमें कोई बुलाता है। अधनींद सो रहा है और कोई नाम लेकर बुलाए तो नींद खुल जाती है। अगर दूसरेका नाम लेकर चाहे जोरसे पुकारे तो नींद नहीं खुलती, पर खुदका नाम चाहे कोई धीमे स्वरसे पुकारे तो शीघ्र नींद खुल जाती है। ऐसा नाममें विश्वास है। किसी पाटिया पर ४०-५० नाम लिख हों और उसपर एक आपका भी नाम हो तो आप सरसरी निगाहसे देखनेपर भी अपना नाम बहुत जल्दी देख लेंगे औरोंके नाम देरसे देखेंगे। तो जैसे अपने आपके बारेमें नाममें संस्कार घुसा हुआ है कि मैं यह हूँ इसी प्रकार उस ज्ञानस्वरूप का ऐसा संस्कार कर लीजिए सोते, चलते, उठते, बैठते सर्वस्थितिमें मैं ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ। जो अन्तरमें सन्नाटा अनुभव किया कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अनुभव यदि किया तो इसीसे पूरा पड़ेगा। न पुण्यके उदयसे पूरा पड़ेगा, न पापके उदयसे पूरा पड़ेगा।

अज्ञानीके शुभभावों द्वारा पापबद्ध पापानुबन्धी पुण्य अथवा कोई जीव नये पुण्यकर्म बाँधने के लिए भोगोंकी इच्छा और निदान रूपसे शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता है, जैसे सुख मिले, विपत्तियाँ दूर हों, घर सुख चैनसे रहे इसलिए कोई पुण्यकर्म करे, एक विधान करले, एक जल बिहार करलें, कोई एक यज्ञ रचा लें, सो पुण्य बाँधने के लिए शुभ क्रियाओं का कार्य करता है। उद्देश्य उसका है कि सुख चैन हो, खूब भोग सम्पदा मिले तो उसे क्या मिलेगा? पापानुबन्धी पुण्य मिलेगा। पहिले तो यही कठिन है कि पुण्य उसका बँध जाय; क्योंकि जिसकी नींव ही खराब है, आशय ही उल्टा है, संसारके भोगोंकी चाह लेकर किया जाने वाला धर्म कार्य है तो उस कार्यके करते हुए पुण्य बँध हो जाय तो पहिले तो यही कठिन है कि पुण्य बँध जाय।

धोखा कहाँ? भैया! कर्म पौद्गलिक हैं। उन कर्मोंके चेतना नहीं है जो वह धोखे में आ जाय। धोखा देता है जीव और धोखा खाता है जीव। पुद्गल न धोखा खाते हैं, न धोखा देते हैं। पुद्गलमें जीव नहीं है, चेतन नहीं है जो वह पुद्गलकर्म धोखा खा जाय कि यह बेचारा देखो भगवानके आगे खूब नाच रहा है, खूब गान तान कर रहा है तो इसके हम न बँधें या पापकर्म न बँधे। ऐसा धोखा पुद्गल नहीं खाते हैं। पुद्गलका तो जीव परिणमके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तरमें जैसा आश्रय है उसके अनुरूप विस्त्रसोपक्य कार्माणवर्गणा कर्मरूप बन जाती है। कोई भोगकी इच्छा की लिहाजसे आशयसे पुण्यकर्म बाँधनेके लिए शुभ कार्यको करता है तो पापानुबन्धी कर्मका बँध होता है और पापानुबन्धी कर्मरूपी राजा कालान्तरमें भविष्यकालमें भोगोंको देता तो है, मिलते तो हैं इन्द्रियविषयोंके साधन, पर निदान बँधसे प्राप्त जो बँध हैं वे नरकादिक दुःख परम्पराको बढ़ाते हैं। खोटे आशयसे कोई शुभ काम किया जाय तो उस प्रसंगमें थोड़ा मंदकषाय भी आता है तो पुण्यबँध होता तो है किन्तु निदान बँधसे वे कर्म बँध थे, निदान बँधसे ही वे भोग मिले हैं सो वे भोग दुःखपरम्पराको बढ़ाते हैं।

निष्कामकर्मयोगीके संसारफलकी आपत्तिका अभाव जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा नहीं करता है तो वह राजा भी उसे कुछ भोगनेको नहीं देता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वमें उपार्जन किए गए उदयागत पुण्यकर्मके उदयसे कभी आत्मीय आनन्दसे च्युत होकर विषय सुखके लिए उस कर्मको उपादेय बुद्धिसे नहीं सेवता तो कर्म भी रागादिक परिणामोंको नहीं देते।

आशाके अभावसे कर्मफलकी अगति एक जगह आत्मानुशासन में लिखा है कि संसारी जीवकी २ इच्छाएँ होती हैं एक तो धन वैभव मिले और एक मेरी जिन्दगी बनी रहे। दो ही तो मुख्य इच्छाएँ हैं। बच्चे, बूढ़े और जवान सभीको ये ही दो इच्छाएँ सताती हैं। बच्चे भी जानते हैं कि यह दुवन्नी है, यह चवन्नी है, यह अठन्नी है। उन्हें अगर छोटा दाम दे दो तो वे फेंकदेते हैं। तो धन वैभवकी इच्छा ये दो ही संसारी जीवके लगी हैं। सो जिनके ये दोनों इच्छाएँ लगी हैं उनको कर्म दुःख देते हैं। और इन दो इच्छाओंको छोड़ दें तो कर्म उनका अब क्या कर लेंगे बतलावो? कर्मका यह तो विपाक था कि दरिद्र कर दें। निमित्तदृष्टिसे कहा जा रहा है अथवा मरण कर दें। जो अकिञ्चन्यका ही स्वागत करता हो और मरणका स्वागत करता हो तो कर्म उसका क्या कर लेंगे? कर्म उसके लिए सब व्यर्थ है।

निर्वाञ्छकके कर्मकी व्यर्थता इसी प्रकार जो विषयसुखकी चाह ही नहीं रखता है उसके लिए कर्म व्यर्थ हैं। जो विषयसुखकी चाह करेगा उसके लिए कर्मोंका उदय रागपरिणामको देगा। सुखको देते फिरें, यह उनके बसका नहीं है। पुण्योदयसे वैभव मिल गया तो रागपरिणाम वह कर देगा। अब सुखी होना दुःखी होना यह ज्ञानपर निर्भर है, हम आपदाओंसे बच सकते हैं या नहीं, यह उस पुरुषके ज्ञान और अज्ञानपर निर्भर है। पुण्य कर्म जिन रागादिक परिणामोंको देता है वह

शुद्ध आत्मकी भावनाका नाश करने वाला है। जीव का जो अलौकिक वैभव है उस शुद्धकी भावना करो। शुद्ध आत्माकी भावनाका विनाश होता है तो तीन लोककी सम्पदा भी व्यर्थ है। और शुद्ध आत्माकी भावना रहती है, शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि रहती है, अपने आपको ज्ञानमय मान लेनेका पुरुषार्थ जगता है तो यही सर्वोत्कृष्ट वैभव है दुनियामें।

भावसे भवितव्य—कोई मुझे जानो या न जानो, इससे विभाव और अभावका हिसाब नहीं बैठता है। परमार्थ उपयोगमें है, शुद्ध आनन्द मिलता है तो समझो कि वैभव हमारे पास है और शुद्ध आनन्दका विनाश होता है, याने सुख या दुःख होता है तो समझो कि मेरे पास वैभव नहीं है। कोई सम्यग्दृष्टि जीव जब कि उसके संकल्प-विकल्प परिणाम नहीं है तो उस समय उसके निर्विकल्प समतापरिणामका अनुभवन करनेका भाव रखता है। और जब समतापरिणाम नहीं है तब सम्यग्दृष्टि कहीं न कहीं गिरेगा अपने गृहसे उठकर। किसी रागमें गिरेगा। सम्यग्दृष्टि है तो क्या? उदय तो चारित्रमोहनीयका है। यदि गिर रहा हो वह सम्यग्दृष्टि तो वह अपनेको ऐसा सावधान बनाता है कि मैं अधिक बुरा न गिरूं। विषयकषायमें प्रवृत्त न होऊँ।

पुण्यानुबन्धी पुण्य—सो भैया! विषयकषायसे बचनेके लिए वह ब्रत, शील, दान, पूजा आदि शुभ कर्मोंको करता है तो भी भोगोंकी आकांक्षासे याने निदान बँधसे पुण्यकर्मको नहीं करता। तब उस स्थितिमें जो पुण्यकर्म बनता है वह पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म है। अज्ञानी जीवके पुण्यकर्म बनता है तो पपानुबन्धी पुण्यकर्म बनता है और ज्ञानी जीवके पुण्यकर्म बनता है तो पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म बनता है। यह पुण्यानुबन्धीका बँध करने वाला अगले भवमें तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि बनेगा। सो वहाँ भसी सम्प्रदायरूपसे आया हुआ जो पुण्यकर्म है ना, सो भेदविज्ञानकी वासनासे वासित अब भी है, इस कारण और भोगोंकी चाह करने जैसे रागादिकरूप परिणामोंको नहीं देता है।

ज्ञानीकी दृष्टिमें भोगसुख एक विपत्ति—सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्यानुबन्धी पुण्यका उदय होता है और उस उदयमें नाना भोग साधन प्राप्त होते हैं और उन भोगसाधनोंमें कदाचित् लगता भी है, रागपरिणाम भी करता है, मगर भोगोंकी आकांक्षारूप रागपरिणाम नहीं करता है। उस समयमें उसके ऐसा भाव नहीं होता कि ऐसा सुख मुझे बहुत काल तक मिले। ऐसा रागपरिणाम सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, किन्तु अज्ञानी जीवके होता है। अज्ञानी जीवके सुख भोगते समय ऐसा आशय रहता है कि ऐसा ही खूब सुख मिले, किन्तु ज्ञानी जीव सुखके प्रसंगमें वियोग बुद्धिकी भावना करता है। शुद्ध आत्माकी भावनासे च्युत होकर यह सुख भोगा जा रहा है, यह तो एक विपदा है। इससे अपना पूरा न पड़ेगा। वह ज्ञानी जीव ऐसे सुखको नहीं चाहता है।

ज्ञानीके भोगसुखमें अनासक्ति—जैसे जिसे फांसीका हुक्म दिया गया है उसे खूब बढ़िया भोजन भी दिया जाता है, बढ़िया मिठाई दी जाती है कि खावो खूब मनचाहा, परन्तु जिसे विदित है कि यह फांसी दिलानेसे पहिले मन खुश किया जाता है, ऐसा कायदा है। खूब खा पी लो खानेकी तरस न रहे। तो उसे क्या खानेमें मन लगता है? क्या वह आनन्दसे खाता है? शायद ही कोई ऐसा

विरला होगा जो फांसीका हुक्म दिया जानेपर भी थालीमें परोसी गई बढ़िया मिठाई खुश होकर खाले, हँस-खेलकर वह मिठाई खा ले ऐसा कोई न होगा। उसके तो अभी प्राण संकट में हैं। उसे खाना पीना कहाँ सुहायेगा? इसी तरह जो जानता है कि ये सुख दिए जा रहे हैं, मिल रहे हैं बढ़िया पदार्थ इन बाह्य पदार्थोंकी ओर हम खिंच रहे हैं तो ये हमारे विनाशकेलिए हैं। ऐसा जिसे ज्ञान है और मनमें यह बात लग गई है ऐसा पुरुष उन भोगोंके भोगते समय भोगोंकी आकांक्षारूप विपाक नहीं बँधता है। जो निदान बँध कर दे ऐसा रागपरिणाम सम्यग्दृष्टिके कभी न होगा।

भरतजी घरमें भी वैरागी ज्ञानीका उदयागत पुण्यकर्म रागादिक परिणामोंको नहीं देता है। जैसे भरतेश्वर हुए। भरत चक्रवर्तीके निष्काम भोग था। उस सम्बन्धमें एक पुरुष को शंका हुई कि भरत इतने ठाट-बाट भोग रहे हैं, हजारों राजा जिनकी सेवा कर रहे हैं फिर भी बड़े-बड़े विद्वान पंडित इनको वैरागी कह रहे हैं। भरत राजा घरमें भी वैरागी कैसे हैं? ऐसी शंका हुई तो मंत्रीसे प्रश्न किया कि महाराज यह कैसे हो सकता है कि आप कहा करते हो कि भरतेश्वर घरमें भी वैरागी हैं। उन्होंने कहा बतलायेंगे। यदि तुम एक काम कर लो और जिन्दा रह सके तो हम तुम्हें बतलायेंगे।

भरतजीके वैराग्यके समझनेकी एक युक्ति हाथमें यह तेलका कटोरा लो, हथेलीपर रख लो, चार पहरेदार तुम्हारे संगमें जाते हैं। ये तुम्हें सब कुछ दिखायेंगे, भरतका वैभव घुड़साल, रानियोंके महल और और भी आरामकी चीजें, शृंगारकी चीजें, सब कुछ तुम देख आना और देखो यह जो तेलसे भरा कटोरा है इसका एक बूंद भी बाहर न गिरने पाये। यदि एक बूंद भी बाहर गिर गया तो पहरेदारोंको यह हुक्म है कि तुम्हें मार डालेंगे। अगर तुम जिन्दा बचकर आ गए तो हम तुम्हें जवाब देंगे। हम तुम्हें बहुत बड़ी बात बतायेंगे। यों ही मुफ्तमें न बता देंगे।

जिज्ञासुका देखा भी अनदेखा वह जिज्ञासु तेलका कटोरा लेकर सब कुछ देखकर वापिस आया तो मंत्रीने पूछा कि तुम सब चीजें देख आये? हाँ देख आए। अच्छा बतलावो घुड़साल में कितने घोड़े थे अथवा किस-किस रंग वाले थे? बोला कि हमें यह पता नहीं है। हम तो सरसरी निगाहसे देखते गए। अच्छा अमुक रानीके महलमें क्या-क्या था? वह बोला कि हम तो रानियोंके महलसे निकल गए, सरसरी निगाहसे देख लिया, पर ध्यान तो हमारा इस तेलके कटोरेमें था। और भी शृंगारकी वस्तुओंके सम्बन्धमें पूछा। सबका उत्तर वही रहा। फिर पूछा कि तुम सब जगह हो भी आय और कहते हो कि महाराज मेरा ध्यान कटोरेपर था कि कहीं एक बूंद भी तेल न गिर जाय। इसी कारण मैं कुछ ज्यादा न समझ सका, सामान्यता ही देखा।

भरतजी का वैराग्य मंत्री बोला कि इसी तरहका ध्यान भरतेश्वरके रहता है, वे शुद्ध आत्माकी दृष्टि नहीं भूलते। यह शुद्ध आत्मा मेरे ध्यानसे बाहर न हो जाय ऐसा निरन्तर उनके ध्यान रहता है, क्योंकि उन्हें मालूम है कि यदि यह शुद्ध आत्म-प्रभु मेरी भाव भासनासे जुदा हुआ जाता है तो नरक निगोद जन्ममरण संसारके संकट ये महान क्लेश भोगने पड़ेंगे। सो भरतेश्वरकी दृष्टि शुद्ध आत्मतत्त्वपर रहती है, इस कारण वे भोग विषय, लोगोंके मिलन जुलन, ठाटबाट इनके बीच

रहते हुए भी वे सबसे विरक्त रहते हैं। 'परद्रव्यनतैर्भिन्न आप तै रूचि सम्यक्त्व भला है।' सर्व परद्रव्योंसे भिन्न एक शुद्ध ज्ञानमात्र भाव, जाननमात्र भावमें ही रूचि किए हुए हैं इस कारण यह ऐसे रागपरिणामको नहीं करता कि निदान बँध करदे, भोगोंकी आकांक्षा बना दो।

पुण्यानुबन्धी पुण्यकी तत्वभावनापर अनाक्रामकता—पुण्यानुबन्धी कर्मके उदयसे भवांतरमें तीर्थकर चक्रवर्ती, बलदेव आदि बड़े अभ्युदय प्राप्त होते हैं। पूर्वभवमें भाये गए भेदविज्ञानकी वासना कुछ भी रहती है तो उसके कारण वह रागपरिणामको नहीं करता, जो रागपरिणाम भोगोंकी इच्छारूप है, विषय सुखको उत्पन्न करता है, शुद्ध आत्माकी भावनाका विनाश करता है ऐसे रागादिक परिणामको यह ज्ञानी जीव नहीं करता, किन्तु समस्त ज्ञानकी व्यक्तियोंमें अभेदरूपसे अवस्थित परमार्थ साक्षात् मोक्षका कारणभूत शुद्ध आत्माका सम्वेदन अथवा शुद्ध आत्मसम्वेदनका संस्कार उनके बसा रहता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव अपने शुद्ध जाननस्वरूपकी दृष्टिके बलसे सदा संकटोंसे मुक्त रहता है।

निष्काम कर्मयोग—तन, मन, वचनसे चेष्टा करते हुए यदि कोई उसके एवजमें सांसारिक सुख चाहे तो इस प्रकारके कर्म बनते हैं कि अगले समयमें भी उनके उदयमें राग उत्पन्न होता है। और राग संसारका बाधक है, इस कारण प्रमत्त अवस्थामें निष्काम कर्म योग बहुत आवश्यक चीज होती है। अन्य सिद्धान्तोंमें निष्काम कर्मयोगमें और जैनसिद्धान्त निष्काम कर्मयोगमें मात्र इतना ही अन्तर है कि जैनसिद्धान्तमें निष्काम कर्मयोग शान्तिके उपायका अंतिम उपाय नहीं है जबकि अन्यत्र निष्काम कर्मयोगको शान्तिका अंतिम उपाय कहा जाता है। जैनसिद्धान्तमें शान्तिका अंतिम उपाय ज्ञान है और प्रारम्भिक उपाय भी ज्ञान है। निष्काम कर्मयोगके अवसरकी भी जो ज्ञानानुभूति है वह तो शान्तिका उपाय है और जो वेदनाका प्रतिकार है वह कर्मोंका भोग है। कर्म करने पड़ते हैं पर कामना मत करो यह जैनसिद्धान्तके निष्काम कर्मयोगकी व्याख्या है। तथा कामनारहित होकर कर्म करना चाहिये, यह निष्काम कर्मयोग की लोकसाधारण व्याख्या है।

फलार्थ चेष्टाका फल विषाद—सम्यग्दृष्टि जीव फलके लिए कर्मकी सेवा नहीं करता अर्थात् चेष्टाएँ नहीं करता, इसलिए कर्म भी उसको फल नहीं देते याने आगामी कालमें राग को उत्पन्न नहीं करते। जैसे अपने घरके पुत्रोंका पोषण फल लेकर किया जाता है। सो आगामी कालमें कुछ गुजरनेपर पुत्रका वियोग होनेपर या पुत्रके प्रति कल्पना होनेपर रंज होता है, राग होता है और गरीबोंका पोषण फलकी इच्छा न रखकर किया जाता है तो उनमें कोई गुजर भी जाय, कोई बात हो जाय तो मनमें खेद नहीं होता याने उनके प्रति राग नहीं बढ़ता। इसी प्रकार सर्व कार्योंको समझना चाहिए। फल चाहकर अपनी चेष्टाएँ की जायें तो उनका फल भविष्यमें राग है और आकुलता है, और फलकी चाहरहित चेष्टाएँ की जाती हैं, करनी पड़ती हैं तो उनमें यह बँधन नहीं होता कि आगामी कालमें राग हो। जैसे पुत्रका पोषण बँधके लिए है पर गरीब जनता का पोषण बँधनके लिए नहीं है।

निष्काम कर्मयोग व समागतविरक्ति विलक्षण तपः अब भैया! परमार्थसे घटावो कि कुछ भी चेष्टा करके मेरेको पुण्य बँध हो, मेरेको सुख उत्पन्न हो, ऐसा भाव किया जाय तो वह आगामी कालमें रागको ही पैदा करता है। वह दृष्टान्त था, अब दृष्टान्तमें लीजिए तो उसमें सब आ गया। चाहे पुत्र हो, चाहे अन्य जनता हो, फलकी चाह करके कर्म किया जायगा तो आगे राग होगा, आकुलता होगी। सम्यग्दृष्टि जीवका उदार ज्ञान देखिए कि वह कितना अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर झुका है कि उसके लिए सारे जीव, सारा वैभव बँधनके लिए नहीं है। कर्मविपाकसे करना पड़ता है पर उसमें रंच आसक्ति नहीं है। यह बात बिरले ज्ञानी संत पुरुषके होती है, असम्भव नहीं है। ऐसा ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं है। और जिसने फलका त्याग कर दिया वह चेष्टा करता है। हम तो इसका भी विश्वास नहीं करते, ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं।

अकृतवत् अकामकृत कर्म जिसने फलकी चाह छोड़ दिया उसे जो करना पड़ता है उसको किया गया नहीं कहा जा सकता। वह अकृतकी तरह है। जैसे किसी नौकरको आपका काम करनेका भाव नहीं है। आप सामने होते हैं तो थोड़ा-थोड़ा करता है, आप मुख मोड़ लेते हैं तो वह काम बंद कर देता है। आपके खड़े होनेपर उसे विवश होकर करना पड़ रहा है। जब इच्छा ही नहीं है करने की तो आप यह कह बैठते हैं कि यह तो काम ही नहीं करा है। अरे कुछ तो कर रहा है पर कुछ किया गया काम न किए गए में शामिल है, क्योंकि उसकी भावना आपपर असर डालती है। जब उसकी भावना काम करनेकी ही नहीं है तो यह न करना कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीवके जब भोग अथवा अन्य कोई चेष्टाएँ भोगनेका भाव ही नहीं है और भोगनेमें आ रहा है, करना पड़ रहा है तो मैं तो उसके अस्निग्ध भावोंकी ओरसे कह रहा हूँ कि वह करता ही नहीं है।

फलपरिहारीके कर्तृत्वकी असंभावना जिसने फलका त्याग किया वह कर्म करता है हम इसका विश्वास नहीं करते, किन्तु किसी भी कारणसे अवश होकर कुछ कर्म करनेमें आ पड़ते हैं तो आ पड़े, उस कार्यके आ पड़नेपर भी उत्कृष्ट ज्ञानस्वभावमें ठहरा हुआ ज्ञानी पुरुष कुछ किया करता है। वह क्या करता है, क्या नहीं करता है? इसको अन्य लोग क्या जानें। ज्ञानी पुरुष ही ज्ञानीकी महिमा को समझ सकता है। जिसका लक्ष्य निष्काम स्वतःसिद्ध अहेतुक सनातन ज्ञानस्वभावमें ही लगा हुआ है, एतावन्मात्र मैं हूँ, और इस मुझका वास्तविक कार्य केवल निरन्तर अर्थपर्यायरूप परिणमते रहना है, सूक्ष्मपरिणमन होता है।

विशिष्ट और अविशिष्ट परिणमनका दृष्टान्तपूर्वक प्रकाशन जैसे जब हवा बिल्कुल न चल रही हो और आपके सरसोंके तेलका दिया जल रहा हो तो आपको वह लौ बिल्कुल ही चलायमान नहीं मालूम पड़ती। बिल्कुल निश्चल जैसी उठी हुई लौ जल रही है वैसी स्थिर मालूम पड़ती है, मगर कितनी ही हवा बंद हो, अग्निकी लौ का स्वभाव है कि अपनेमें कुछ न कुछ चलती रहे, वह आपको विदित नहीं है। हवा बिल्कुल न होनेपर अग्निकी लौ अपने आपमें जो कुछ चल रही है वह अग्निके ही कारण उसका चलना है और हवाके चलनेपर जो वह हिलती है, चलती है वह हवाके कारण चलती है। हमारे गुणोंमें जो विकारपरिणमनरूप चलना हो रहा है वह तो कर्मकी

उपाधिका निमित्त पाकर हो रहा है। कर्म उपाधि बिल्कुल नहीं रहा, सिद्ध अवस्था हो रही है, फिर भी कोई गुण ऐसा वहाँ नहीं है कि वहाँ अपने गुणोंमें अगुरुलघुत्वकृत अर्थपरिणमन न हो रहा हो। जो वहाँ अगुरुलघु गुणमें अर्थपरिणमन हो रहा है बस उसका काम इतना ही है, बाकी सब उपाधिका विकार है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। इस ज्ञानस्वरूपका परिचय पा लिया है ज्ञानीने, और किन्हीं परिस्थितियों वश ज्ञानीको प्रमत्त अवस्थामें रहना पड़ रहा है, गृहस्थावस्थामें रहना पड़ रहा है, उसी नातेसे अनेक काम करने पड़े रहे हैं, फिर भी वह ज्ञानी क्या करता है अन्तर में, इसे ज्ञानीके घरके कूड़ा ढोने वाले नौकर आकर क्या जानें? सम्यग्दृष्टि पुरुष क्या करता है अन्तरमें, इसको मिथ्यादृष्टि अज्ञानी क्या जाने?

ज्ञानीकी बाह्यमें अरुचि—ज्ञानीकी महिमाको ज्ञानी ही जान सकते हैं। उसे यह जंच गया कि कुछ रखा नहीं है वैभव में, कुछ नहीं रखा लोक सन्मानमें, यह सब मोहियोंका झमेला है। कितने ही अधिकांश लोग तो हमसे भी बुरे हैं, अर्थात् मोही हैं, अज्ञानी हैं, धर्म का उन्हें परिचय भी नहीं है। ज्ञानी पुरुषकी भावनापर पहुँचनेके लिये यह कहा जा रहा है। तो मलिन मोही पुरुषोंसे यदि हमने प्रतिष्ठा लूटी, सन्मान लूटा तो उस प्रतिष्ठा सन्मान से कुछ भला भी है क्या? वे मेरे कुछ हितरूप भी हैं क्या? उनमें कुछ दम भी है क्या? कुछ न चाहिए इस लोकमें किसी अन्य पदार्थसे। चाह करनेसे मिलता भी तो कुछ नहीं है।

अचलित स्वरूपसीमादर्शी—यह जीव अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे चिगकर किसी भी बाह्यपदार्थमें उपयोगी होता है तो यह रीताका रीता रहता है। उसमें कुछ भरकमपना नहीं रहता है। जैसे किसी पुरुषमें कोई गुण हो और अपने मुखसे गुण प्रकट कर दे तो गुणोंमें हीनता हो जाती है। फिर अपने आपमें उन गुणोंका भी प्रभाव नहीं रहता है। इस प्रकार यह उपयोग उसके स्वरूपसे बाह्य पदार्थोंमें ले जाया जाय तो उसका फिर महत्व नहीं रहता है, वह रिक्त हो जाता है। मानों वहाँ कुछ भी नहीं है। वह गरीब, दीन, हीन, परसे अपने जीवनकी आशा चाहने वाला हो जाता है, सो अत्यन्त पराधीन हो जाता है, किन्तु यह ज्ञानी सर्वत्र सर्वदा अपनेमें भरपूर रहता है। सर्व वैभवको निहार चुका और समझ चुका, किसी भी परवस्तुसे मेरेमें कुछ आता जाता नहीं है। यह अपने आपकी वृत्तिमें रहकर अपने आपको सृजन करता है और समस्त परपदार्थ अपने आपके प्रदेशमें रहकर अपनी रचना किया करते हैं। ऐसे वस्तुके स्वरूपकी सीमावोंको अचलित देखने वाला ज्ञानी पुरुष पदार्थोंमें क्या रमेगा?

यथार्थ ज्ञान बिना अकुलाहट—जैसे रस्सीको रस्सी जानने वाला घबड़ायेगा नहीं, किन्तु रस्सीको साँपका भ्रम करने वाला घबड़ायेगा। इसी प्रकार परको पर निजको निज जाननेवाला घबड़ायेगा नहीं। दुनियामें कोई संकट ही नहीं है। जैसे ये अजीव पदार्थ पत्थर, लोहा, पीतल, तांबा, सोना पड़े हुए हैं, ये घबड़ाते नहीं हैं, इसी प्रकार कोई संकट ही नहीं है। लोहाको गला दिया, सोनेको गला दिया तब भी कोई उसे संकट नहीं है। अभी ऐसा था और अब ऐसा पानी-पानी बन गया। लोहा, चाँदी, सोना ये घबड़ाते नहीं हैं। कुछ बन जाय बन रहा है क्योंकि उनके उपयोग नहीं

है। एक अपनेमें उपयोग हो फिर तो बुरी बात नहीं है। उपयोग होकर फिर यह उपयोग अपनेमें न रहे और बाहरमें अपनी वृत्ति करे बस घबड़ानेकी बात वहाँ होती है यह बात चेतनद्रव्यमें है। नहीं तो क्या नुक्सान?

उपयोगकी अन्तर्वृत्तिसे आनन्दलाभ भैया सोने चाँदीकी जैसी परिस्थिति तो हम आपमें नहीं है। वे तो गलाए जाते हैं, उनकी जैसी बुरी हालत तो हमारी आपकी नहीं है। उस द्रव्यमें और मुझ द्रव्यमें इतना ही तो अन्तर है कि वे उपयोगरहित हैं, मैं उपयोग वाला हूँ, तिसपर भी परिणमनका तो कुछ अन्तर नहीं है। वे अपनेमें परिणमते हैं मैं अपने में परिणमता हूँ। सिर्फ इतना ही तो मैं कर बैठा कि अपने उपयोगकी वृत्तिको बाहर लगाता हूँ। यदि अपनी उपयोगवृत्तिको मैं बाहर न लगाता तो मैं उपयोगी होकर भी उपयोगरहित जड़ पदार्थोंकी तरह आकुलतावोंसे दूर रहता और इतनी विशेषतामें रहता जो कि परमें, जड़में नहीं है। मैं आकुलतावोंसे परे भी रहता और अनन्त आनन्दसे, आल्हादसे भरपूर भी होता। इतनी विशेषता हममें है। गलाने वाले लोहा, सोनासे मैं और विशेष होता क्योंकि मैं चेतन हूँ।

इन्द्रियोंसे बाहर झांकना ही संकट भैया! संकट क्या है मुझपर? संकट केवल इतना है कि मैंने इन खिड़कियोंसे झांकना शुरू कर दिया इन्द्रिय और मनसे। अपने घरमें और अपने घरके भीतरी हिस्सेकी ओर ही मुँह किए बैठा रहता तो घबड़ाहट न थी, पर इसके कुछ पीड़ा उत्पन्न हुई और उस वेदनाको न सह सकनेके कारण खिड़कियोंसे यह झांकने लगा तो इसके विपत्तियाँ आ गईं।

बाहर झांकनेमें संकटका एक उदाहरणपूर्वक प्रकाशन भैया! जब मार्सल्लाका कानून लग जाता है कि कोई दिखे तो गोली मार दो। यहाँ घरमें बैठे हुए अपने घरमें रोटी बनावो, खावो, पियो, कुछ करो, मौजसे रहो, अगर खिड़कीसे बाहर झांका तो गोली लग जायगी, क्योंकि मार्सल्ला चल रहा है। आपके घरमें ही ६ महीने खानेको गेहूँ, घी, दाल सब कुछ रखा है, बनावो और खावो आनन्दसे भीतर ही, बाहरको मत झांको। बाहर न झांको तो तुम्हारा कुछ नुक्सान है क्या? पर इतना आराममें रहकर भी एक ऐसी इच्छा पैदा हो जाना कि देखूँ तो सड़कपर क्या हो रहा है? बिना कामकी इच्छा पैदा कर लिया। इच्छा पैदा करते ही खिड़कीसे झांकने लगे, गोली आकर लगी, सारा काम खतम हो गया। तुम्हारे घरमें सारा मौज तो है, आनन्द भरा है, ज्ञान भरा है, शांति भरपूर है, कुछ कमी नहीं है, अनन्तकाल तक आनन्द भोग लो, सब कुछ साम्राज्य है, मगर ओछा दिल है, हीन योग्यता है ना इसके, सो इस मौजमें रहा नहीं जाता, अपने घरमें आनन्द नहीं किया जा रहा, इच्छा पैदा हो जाती है। देखें तो क्या है, कैसे हैं लड़के, कैसा है धन, कैसी है मेरी इज्जत लोगोंमें, कैसी है पूछताछ। सो इस खिड़कीसे झांकने लगा। तो भाई संसारमें तो मार्सल्ला चल रहा है, कोई म्याद नहीं है। तुम्हारे शहरमें तो तीन दिन तक मार्सल्ला कानून है। यदि कहीं दिखे तो गोली मार दिए जावोगे। पर इस संसारमें तो अनन्तकालसे मार्सल्ला चल रहा है। खिड़कीसे यदि बाहर झांका तो प्राण खो बैठोगे। यदि इष्टबुद्धि की जा रही है तो अपने इस चैतन्यप्राणका घात किया जा रहा है, उसे शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दसे वंचित किया जा रहा है।

इच्छाका दुष्परिणाम—यह सब एक चाह करने भरका ही सारा परिणाम है। उसने चाह की कि देखें तो सड़कपर क्या हो रहा है? इतनी चाह ही ऐसी गुनाह हो गई कि प्राण खो बैठना पड़ा। इसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयकी, मनके विषयकी एक चाह पैदा हुई, जिस चाहके कर लेनेपर, तन, मन, वचनकी चेष्टाएँ हुई। चाह हुई कि बस यह मारा गया। अनन्तानुबन्धी कषायमें हिंसा हो रहा है। इसी कारण यह ज्ञानी जीव कुछ नहीं चाहता, अपने घरमें बैठा रहता है। वैरागी पुरुष उस मार्सल्लामें बाहर झांकना नहीं चाहता। यह ज्ञानी पुरुष इस परिवर्तनशील असार संसारमें इच्छा नहीं करना चाहता।

जिसने फलकी चाह छोड़ दिया वह कर्म करता है हम इसका विश्वास नहीं करते हैं, किन्तु फिर भी इस पुरुषके किसी भी कारणसे विवश होकर कोई कर्म करनेको आ पड़ते हैं तो आ पड़ें। वह तो निष्काम परम ज्ञानस्वभावमें स्थित है। अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया करता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष क्या करता है? जहाँ मन है, जहाँ उपयोग है उसे करता है और जो क्रिया हो रही है, चेष्टा हो रही है वह कुछ भी नहीं करता है। जहाँ चाह है वहाँ कर्तृत्व माना जाता है और जहाँ चाह नहीं है वहाँ कर्तृत्व नहीं माना जाता है।

करने और होनेका परिणाम—चाह करनेका नाम ही कर्तृत्व है। और बिना चाहे परिणाम जाननेका नाम होना कहलाता है। हो गया ऐसा, पर हमने किया नहीं। कभी बिना चाहे आपकी गलती हमसे बन जाय तो हम यही कहा करते हैं कि उस समय ऐसा हो गया, हमने किया नहीं क्योंकि करना ही न चाहता था। कुछ साधन ही ऐसे होते हैं कि हो जाते हैं बड़े गड़बड़ काम। पर किए नहीं जाते रंच भी अपराधके काम। यह सब सम्यग्ज्ञानकी ही महिमा है। मोक्षका उपाय, आनन्दका उपाय ये सब दृष्टिमें भरे हुए हैं।

दृष्टिकी निर्मलताका उद्यम—भैया! दृष्टि निर्मल हो तो आनन्द कहीं नहीं गया, दृष्टि मलिन हो तो वहाँ आनन्द ढूँढनेसे भी नहीं मिलता। इस कारण हमारी दृष्टि उदार हो। लोगोंके बीच रहकर भी उनमें ऐसा द्वैत न आए कि मेरे सर्वस्व ये ही हैं, गैर जीव मेरेसे अत्यन्त गैर हैं, ऐसे श्रद्धानमें अद्वैतत भाव नहीं आ सकता। करना पड़ रहा है, किया जा रहा है और गृहस्थधर्ममें ऐसा करना चाहिए। पर गृहस्थधर्म ही तो मेरे लिए धर्म नहीं है, परमार्थधर्म तो आत्मपदार्थ है। गृहस्थ धर्मके लिए २३ घंटा समय लगा दीजिए पर एक घंटा तो आत्मधर्मकेलिए समय लगाइए। मैं आत्मा हूँ, गृहस्थ नहीं हूँ, गृहस्थ एक दशा है, अवस्था है, अवस्था है, परिणति है, मैं गृहस्थ नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। मैं जो हूँ उसका धर्म मेरे लिए किया जाना चाहिए।

धर्म और धर्मपालन—मैं आत्मा हूँ, ज्ञानमय हूँ। हमारा ज्ञान धर्म है और जितनी ज्ञानकी वृत्ति है उतना धर्मका पालन है। मेरा धर्म है ज्ञान और सही-सही जानना यही है धर्मका पालन। ऐसी ज्ञाता दृष्टाकी वृत्तिसे रहना मेरा कर्तव्य है। अन्य कुछ जो करनेमें आता है यह सब कर्मोंका खेल है, मेरा कार्य नहीं है। ऐसा निर्णय रखने वाले ज्ञानी पुरुष के किन्हीं भी बाह्य चेष्टावोंकी रुचि नहीं रहती है और न उन चेष्टावोंके एवजमें कुछ फल चाहता है। उसकी दृष्टि केवल ज्ञानस्वभावके मर्मके अनुभवनकी रहती है।

सम्यग्दृष्टिके भयका अनङ्गीकार—अन्तरात्मा अपने अमर ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिको बड़ा संकट आनेपर भी नहीं छोड़ता है। ऐसा साहस सम्यग्दृष्टि पुरुष ही कर सकता है। जिस को निज सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभवात्मक परिचय नहीं होता है। वह छोटे-छोटे रागद्वेषके प्रसंगमें अपनी आत्मदृष्टिको छोड़ देता है और क्षोभमें आता रहता है। सम्यग्दृष्टिमें ही ऐसा साहस हो सकता है कि जिसके भयसे तीन लोकके प्राणी अपने चलते रास्तेको छोड़कर अगल-बगल मुक जायें तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष स्वभावसे निर्भय है। अतः सर्वप्रकारके संशयोंके अंतरसे दूर रहता है। भय दो प्रकारसे होते हैं। एक तो मूलमें भय, विपरीत श्रद्धा होनेके कारण एक बिगड़ी श्रद्धाका भय और एक ऊपरी भय। ज्ञानी पुरुषके कदाचित् ऊपरी भय हो जाने पर वह अन्तरमें भयको अंगीकार नहीं करता है। अन्तरमें तो अपने निष्कम्प ज्ञानस्वभावको ही अंगीकार करता है।

ज्ञानीके अशनका अनङ्गीकार—जैसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष भी कदाचित् आहार लेता है पर आहार करते हुए आहारको अंतरसे अंगीकार नहीं करता। प्रतीति उसकी यही रहती है कि मैं अनशन स्वभावी हूँ। आत्मा अमूर्त है, इसका अशन करनेका स्वभाव नहीं है। श्रद्धामें अनशन स्वभावकी प्रतीति है और आहार करता रहता है। तो उसका वह भोजन करना ऊपरी ढंगसे कहा जायगा। यदि उस भोजनको अपनाए, जैसे कि अज्ञानी जन अपने अनशन स्वभावको नहीं पहिचानते और भोजनसे ही जीवनका बड़प्पन, हित, सुख मानते हैं, भोजन करनेमें ही अपनी कला समझते हैं। बड़े शौकसे खाते हैं, खिचड़ी खाया तो चम्मच से, खीर खाई तो चम्मचसे, कुछ चीजें कांटेसे चुभोकर खाई, और ऐसी कलाको करते हुए वे अपनेको कलावान अनुभव करते हैं। और मैं बहुत विवेकसे अपने पुण्यका काम कर रहा हूँ, भोग रहा हूँ, इसीसे ही महान् हूँ, और लोगोंसे मुझमें विशेषता ही क्या है? अच्छा खाता हूँ, अच्छा पहिनता हूँ, और लोगोंसे लाख दर्जे अच्छा हूँ। बढ़िया बढ़िया सारे साधन जुटे हैं। ऐसी अन्तरमें इन बाह्य प्रसंगोंके स्वभाव रूप प्रतीति है अज्ञानी जीवके।

ज्ञानी और अज्ञानीकी वृत्तिमें अन्तर—ज्ञानी जीवके कदाचित् भोजन करते हुएमें कोई विशेष अन्तर कर अनुभव यदि आ जाय कि स्वभाव तो मेरा अनशनका और अनन्त आनन्द भोगनेका है और यहाँ कैसे विकारमें पड़ गया, जिसे ऐसा अन्तरमें बोध हो, कही खाते हुएमें भी उसके खेदके एक दो बूँद झलक जायें। जब कि अज्ञानी जीव खाकर मौज मानकर हँसता है, खुश होता है और इससे ही मेरा बड़प्पन है ऐसी प्रतीति करता है। खाते हुएमें बोलता भी जाता है। पान चबाते हुए में एक और पान रखे है और एक ओर से बातें करता जाता है उसमें ही बड़प्पन मानता है। कितनी ही प्रवृत्तियोंको अज्ञानी अंगीकार करता रहता है।

ज्ञानीके अन्तर्निर्भयताका परिणाम—तो जैसे प्रवृत्तिमें तो आहार हो रहा है और प्रतीतिमें अनाहार संस्कार है, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके कदाचित् भय भी हो जाय भयानक आवाज होनेसे दहल भी जाये तो भी वह भय ऊपरका है, अन्तरमें निर्भयता का स्वभाव है। जैसे कोई पुरुष एकाएक यह माननेको तैयार न होगा कि अमुक भोजन भी कर रहा है और उस भोजनसे अलग

हो रहा है। इन दोनों बातोंको कोई पुरुष एकाएक नहीं मान सकता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ऊपरी भय भी करता है और भीतरमें निर्भय भी रहता है तो दोनों बातोंको कोई एकाएक नहीं मान सकता है, किन्तु विचार करनेपर अपने किसी-किसी प्रसंगका उदाहरण रखने पर यह बात जंच जायगी कि ऊपरी भय होता हुआ अन्तरमें निर्भय रहे और ज्ञानस्वभावको न छोड़ सके, ऐसा उसके साहस रहता है।

ज्ञानीका अद्भुत साहस—जैसे कोई पुरुष चार भाषाओंको जानता है हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत तथा और-और भाषाओंको जानता है। उसके सामने अंग्रेजीका लिखा हुआ पत्र आए औरह उसे वह बाँचने लगे तो उसके उपयोगमें केवल अंग्रेजी-अंग्रेजी भरी है पर अन्तरमें उन तीन भाषाओंका ज्ञान और संस्कार भी बदस्तूर है पर प्रवृत्तिमें केवल एक भाषा है, संस्कारमें वही सारी प्रतिभा है। इस प्रकार प्रवृत्तिमें कोई एक ऐब भी आ जाय, दोष भी हो जाय तो वह दोष केवल वृत्ति में है, ऊपरी है। अन्तरमें तो वह सहज ज्ञानमय स्वरूपकी श्रद्धा ही बसी हुई है। ऐसे ही अन्तरङ्ग अनुभवके कारण ज्ञानी पुरुषमें ऐसा अलौकिक साहस होता है कि ब्रज भी ऐसा गिर जाय कि जिसके भयसे तीनों लोकके प्राणी कम्पायमान होकर अपना-अपना मार्ग छोड़ दें तो भी वह स्वभावतः निर्भय होनेके कारण सर्व प्रकार भी शंकाओंको छोड़कर अपने आपको अबध्य ज्ञानवाला जानकर ज्ञानस्वरूप की दृष्टिसे च्युत नहीं होता।

ज्ञानीका व्यवहारप्रसंगमें ज्ञान—भैया! क्या हो गया? अमुक गुजर गया। जान लिया कि गुजर गया। उसके गुजरनेसे यह विश्वास नहीं करता कि लो मैं अशरण हो गया या बिगड़ गया, या मर गया, या बेकार हो गया। वह गुजर गया, उसकी इतनी ही आयु थी, चला गया। वह तो अमर है। पर्याय बदलकर चली गई, आते जाते हुए लोग किसी जगह एकत्रित हो गए हैं, अपने समय तक एकत्रित हैं, पश्चात् अपनी-अपनी करतूतके अनुसार चले जायेंगे। न उनका कुछ बिगड़ा, न मेरा कुछ बिगड़ा। जब कि अज्ञानी जीवके ऐसी वासना रहती है कि उसका इष्ट गुजरनेपर उसे जगतमें अंधेरा ही अंधेरा दिखता है। उसके लिए इस जगतमें अंधेरासा छा जाता है, वह कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अब क्या करता है, अब तो सब बरबाद हो गया, अपनेको दीन हीन अनुभव करता है।

अज्ञानीके क्षोभपर अनुभव—देखो भैया! यहाँ आत्मप्रभुको हित नहीं है। यह प्रभुस्वरूप है लेकिन अपनी प्रभुता को छोड़ दिया है और बाह्यमें अहंकारी हो गया है। अभी रास्तेमें एक युवक जा रहा था, खूब बढ़िया जाड़ेके कपड़े पहिने और ऊपर मुँह किए हुए एक अभिमानकी मुद्रासे जा रहा था। जाने वाले लोगोंको तुच्छ गिने, ऐसी दृष्टि करता हुआ जा रहा था तो मेरे मनमें दो शब्द उठे कि देखो यह भगवान अपना स्वरूप नहीं जानता है, पर्यायमें कैसा अहंकार करके दुःखी होता जा रहा है? लोग मानते हैं कि ठाठका सुख है पर क्षोभ किए बिना यह जीव ठाठ भी नहीं कर पाता। कौन मनुष्य शांतिसे वैभवको भोगता है? उथल-पुथल मचाकर भोगता है। जो शांतिका परिणाम पूजामें अथवा ध्यानमें या चर्चामें रखा जा सकता है, क्या भोजन करते हुएमें आप किसीके शांतिका परिणाम होता है? नहीं। सुख तो मानते हैं पर शांति नहीं मिलती।

ज्ञानीके अन्तरमें निश्क्षुब्धता—यहाँ आत्मदृष्टिमें शांति भी है, सुख भी है। खाते हुए में कुछ भी कल्पना न करे, निर्विकल्प होता रहे और कौर दमादम मुँहमें आते जायें, पेटमें घुसते जायें ऐसा किसीके होता है क्या? नहीं कल्पना उठती है, चाह बनती है, मौज मानता है और अगले ग्रासकी कल्पना करता है। अब क्या खाना चाहिए? कितनी जल्दी ये कल्पनाएँ हो जाती हैं कि एक सेकेण्डमें बीसों कल्पनाएँ हो जाती हैं। कैसा है यह मन और कैसा यह विकार? शांति परिणामको रखकर कोई भोग भोगा जाता है क्या? खेद, अशांति, संक्लेश, क्षोभके साथ ही भोग भोगे जाते हैं। पर सम्यग्दृष्टिके यह क्षोभ भी मच रहा है भोग भोग जानेको, फिर भी अन्तरमें वह निश्क्षुब्ध है।

अन्तसे अविदित पुरुषका क्षोभ—जैसे कोई नाटक देखा जा रहा हो और जिसे उस नाटकका परिणाम न मालूम हो, जैसे कोई ऐसा नाटक निरपराध, सुशील, मनोज्ञ कोई पुरुष या स्त्री जो कि बीचमें बड़े संकटमें आया हो और बादमें बड़ा साम्राज्य और प्रतिष्ठा पाई हो ऐसा कोई नाटक देखा जाय, जिसके बारेमें कथा न मालूम हो ऐसा नया आदमी उस नाटकको देखे तो जब उस पुरुषपर संकट आ रहे, उपद्रव आ रहे तो वह रोने लगेगा। और कोई ऐसा हो कि जिसे सब मालूम हो कि अंत में बड़ा सम्मान होगा, प्रतिष्ठा होगी, जय जायकार होगी ऐसा पुरुष भी उस उपद्रवकी घटनाको देख रहा है, पर उसके दुःखका रंग नहीं व्याप रहा है, क्योंकि उसे पता है कि इसके बाद तो यह बड़ा आनन्द पायगा, बड़ा सम्मान पायगा। तो उपद्रव वाली घटना देखे जानेपर उसे विह्वलता नहीं होती है।

अन्तसे परिचित ज्ञानीका धैर्य—यह सम्यग्दृष्टि इस नाटकाका ऐसा ही दर्शक है जिसे आगे पीछेका सब हाल मालूम है। उसे विदित है कि यह मैं न कभी बिगड़ा, न बिगड़ूँगा। यह मैं पहिले भी उत्तम था, अब भी उत्तम हूँ, आगे भी उत्तम ही रहूँगा। वह अपरिणामी स्वभावी है। मेरी ही सत्ताके कारण मेरा ही अपने आपमें जो कुछ भाव रहता है वह भाव ध्रुव है, निर्मल है, विविक्त है, एक स्वरूप है। ऐसा उस पूर्ण मालूम है सो कदाचित् विकार की विपत्तिकी, संकटकी कोई घटना आ जाय तो इसे चूँकि अपने आगे-पीछेका सारा हाल मालूम है, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरमें क्षोभ नहीं मचाता है। दुनिया इस शरीरको जानती है। मैं जो एक ध्रुव व ज्ञानस्वरूप सर्व जीवोंके समान प्रभुवत् जो आत्मतत्त्व हूँ उसे दूसरा जीव नहीं जानता। और जो जानते हैं वे स्वयं अपने आपमें घुल-मिल जाते हैं। उनकी ओरसे तो मुझपर कोई संकट ही नहीं आ सकते। जिनकी ओरसे मुझपर संकट आ रहे हों, जिनकी वजहसे मुझे आपत्तियाँ भोगनी पड़ रही हों वे सब व्यवहारी जीव हैं, मूढ़ बनकर उन चीजोंको अंगीकार करता हूँ और दुःखी होता हूँ।

उपासनीय परमार्थ एवं अचूक औषधि—परमार्थतः जो मैं हूँ उसको कोई दुःखी कर सकने वाला नहीं है। मैं अमर हूँ। वस्तुका स्वभाव कभी मिटता नहीं है। वस्तुका स्वभाव मिट जाय तो वस्तुस्वरूप मिट जाय। ऐसा अमर अमिट ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूँ। ऐसा संस्कार इस सम्यग्दृष्टि जीवके अति दृढ़ रहता है। यह बात यदि हो सके तो करने योग्य मात्र एक यही काम है। यदि यह कर लिया तो समझो सब कर लिया। और यदि यह बात न हो सकी तो यही हाल है कि हम

भोगोंको नहीं भोगा करते हैं, भोग हमें भोग डालते हैं। मकान वही रहता है, लोकपरम्परा वही रहती है। कोई चीज हम भोग नहीं पाते है। सर्व पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें अपना परिणमन करते रहते हैं, उनको मैं क्या भोगता हूँ उन भोगोंका निमित्त पाकर उनका आश्रय बनाकर मैं भुग जाया करता हूँ, बरबाद हो जाया करता हूँ। यदि ज्ञानदृष्टि और आत्माके सहजस्वरूपका परिचय न कर पाया तो यही हाल रहेगा। कुछ भी घटना ज्ञानीके सामने आये, उसे वहाँ भी अपने अपरिणामी ज्ञानस्वभावकी स्मृति बनी रहती है, उसके संस्कार रहता है। जिसके पास अचूक औषधि हो वह ऊपरी रोगकी अधिक परवाह नहीं करता। अगर बाहरी रोग हो गया तो झट औषधि निकाली और रोग समाप्त किया। इस सम्यग्दृष्टिके पास एक अचूक औषधि है वह है सुरक्षित अमर निज स्वभावकी दृष्टि।

जीवकी बरबादीके प्रकार—विनाश दो तीन प्रकारके होते हैं। एक तो यह विनाश कि कुछ अटक तो है नहीं, कुछ आत्मामें संकट तो गुजर नहीं रहा, या आवश्यकता तो है नहीं और कल्पनामें मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा, यश अपयशका विकल्प करते हैं और अपने चैतन्यस्वभावका घात कर रहे हैं। एक तो इस तरहसे जगतके जीवोंका विनाश हो रहा है, दूसरे कोई संकट विपत्ति आ जाय, गुजर-बसर कम हो जाय, घरके लोग लड़ने झगड़ने अधिक लगें, उस समय में जो अपने स्वरूपका विस्मरण होता है यह है दूसरे प्रकारका जो विनाश। पहिले प्रकारका जो विनाश है वह तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है। यह दूसरे प्रकारका जो विनाश है, मूर्खता तो यहाँ भी है मगर यह मौजमें मूर्खता नहीं हो रही है। पहिला विनाश तो मौजसे, शौकसे अपना विनाश कर रहा है। दूसरे विनाशमें कुछ संकट आ पड़ रहे हैं, लाचारीसी हो रही है। और यश फैलनेका जो विनाश है वह स्वच्छन्द होकर ऊधमी होकर कर रहा है। तीसरा विनाश यह है कि क्षुधा, प्यास, ठंड, गर्मीकी वेदना, शरीरमें रोग हो गया है उसकी वेदना का है। इन वेदनावोंसे अपने स्वरूपको भूलकर और इन पीड़ावोंसे अपना अहित मानकर इस चित्स्वभावी प्रभुका घात कर रहे हैं। इस तीसरे विनाशसे यह अधिक लाचारीमें पड़ गया। पर विनाश यहाँ भी हो रहा है। शौकसे अपना घात करे, लाचारीसे अपना घात करे और अधिक लाचारीसे अपना घात करे, इन तीन प्रकारके विनाशोंमें ये जगतके जीव पड़े रहते हैं।

संसारी जीवोंकी बरबादीके प्रकार—एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव एक प्रकारसे विनाश कर रहे हैं, अधिक लाचारीसे, शरीरकी लाचारीसे। शौकसे बरबादी का उनके प्रसंग नहीं है। कीड़े मकोड़े, पेड़ पौधे ये दुःखी होते हैं, अपने स्वरूपका घात कर रहे हैं। इन्हें पानी न मिले, खाना न मिले और कोई जूतोंसे दबोच दे, कुल्हाड़ीसे काट दे, दुःखी हो गए। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव आपसी विवादसे गाली गुप्तारसे इन प्रसंगोंसे भी अपना विनाश कर लेते हैं। और समझादार संज्ञी पंचेन्द्रिय अधिक चतुर पुरुष शौकसे बरबादी भी अपनी कर डालते हैं। जो लोकमें अधिक चतुर समझे जाते हैं वे प्रायः तीनों पद्धतियोंसे अपना नाश करते हैं। पर यह घात ऐसी बेहोशीकी घात है कि अपनेमें अनुभव नहीं कर पाता कि मैं अपना कितना विनाश किए जा रहा हूँ?

कष्टहरण कुञ्जी—जैसे सवाल हल करनेकी कुञ्जी याद हो तो कितने ही सवाल बोलते जावो झट वह हल करता जाता है, और जिसे कुञ्जी याद न हो वह अट्ट-सट्ट कुर्याई लेखेसे कठिन प्रश्न भी आ जायगा तो भी बना लेंगे, जोड़ लेंगे हो जायगा जवाब, तो वह इस चिंतामें पड़ा रहता है कि जवाब हल हो सके या न हो सके। सम्यग्दृष्टि जीवको सर्व समस्यावोंके हल करनेकी कुञ्जी हस्तगत होती है। तो कोई भी समस्या आ जाय, कोई भी संकट आ जाय वह अपने स्वरूपको सम्हालता है। वे संकट चाहे कितने ही प्रकारके हों, पर कुञ्जी एक है उसे ही सम्हालता है और विविध संकट समाप्त हो जाते हैं।

अपनेको क्या करना योग्य—एक राज्यमें राजा गुजर गया तो मंत्रियोंने सलाह की कि अब किसे राजा बनाया जाय? तो यह निर्णय हुआ कि सुबह ५ बजे जब यह फाटक खोला जायगा और जो फाटकपर बैठा हुआ मिलेगा वह राजा बनाया जायगा। ठीक है तय हो गया। जब सवेरा हुआ और फाटक खोला गया तो एक फकीर भिखारी जो कि रातभर फाटकके किनारे सोया था, सो मिला। सब मंत्री पकड़कर उसे ले गए। बोला हम सबमें तय हो गया है तुम्हें राजा बनना पड़ेगा। साधुने कहा भैया हम राजा नहीं बनेंगे। कहा कि नहीं, तुम्हें राजा बनना ही पड़ेगा। लो ये कपड़े उतारो और पायजामा, कोट पहिनो, पगड़ी बाँधो और मुकुट बाँधो। साधुने कहा कि अच्छा सुनो भाई हम राजा तो बन जायेंगे पर एक शर्तपर बनेंगे। क्या कि हमसे कभी कोई राज-काजकी बात नहीं करना है। तुम सब मंत्री मिलकर सलाह कर लेना। कहा मंजूर है। तो एक पेटीमें अपनी लंगोट और झोली रख दी और राजसी वस्त्री पहिन लिए। २ साल तो अच्छी तरह बीत गए। तीसरे वर्ष एक दुश्मनने उसपर चढ़ाई कर दी। मंत्री सब घबड़ा गए। सब मंत्री राजासे सलाह लेने आए कि राजन्! क्या करें? तो राजाने कहा कि अच्छा पेटी उठाओ। पेटी आ गई। पेटी से लंगोट निकाल, सब कपड़े उतार दिए। लंगोट पहिन लिया और हाथमें झोली लिया और कहा कि अपने रामको तो यह करना चाहिए और मंत्रियोंको क्या करना चाहिए सो तुम जानो।

स्वरूपमें अचलित रहनेका अपूर्व साहस—तो कैसा ही संकट आ जाय, ज्ञानी पुरुष अपने अन्तरमें जानता है कि अपनेको तो यह कर लेना चाहिए, सबसे न्यारा, चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव कर लेना चाहिए और उन पदार्थोंको वे जानें। वे पदार्थ तो अविनाशी हैं, केवल पर्यायोंरूपसे परिणमते हैं। इस कारण मैं कोई निर्दयताकी बात नहीं सोच रहा हूँ। वे भी मेरी तरह ही सुरक्षित हैं। केवल भ्रमसे ही हम दुःखी हैं और भ्रमसे ही दूसरे जीव दुःखी हैं। बिगाड़ किसीका नहीं होता। सब अपनी-अपनी पर्यायसे परिणमते हैं। सो अपने रामको तो स्वभावाश्रय करना चाहिए और बाकी सब रामोंका जो होना होगा सो उनका होगा, पर वे भी अमर हैं। ऐसा वस्तुस्वरूपका निर्णय होनेसे सम्यग्दृष्टि पुरुष निरन्तर साहसी रहा करता है।

॥ इति समयसार प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥